

"भूमिका" ।

तैत्तिरीय-उपनिषद्, तैत्तिरीय आरण्यक का एक भाग है, जो आरण्यक कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीयशाखा का है। इस आरण्यक के दस प्रपाठकों में से पहले छः कर्मकाण्ड के विषय में हैं, सातवां आठवां और नवां प्रपाठक तैत्तिरीय या तैत्तिरीयक उपनिषद् है। दसवां प्रपाठक याज्ञिकी या महानारायण उपनिषद् है, जो बिल कहलाता है। अर्थात् यह आरण्यक में एक परिशिष्ट के तौर पर है।

इस उपनिषद् के तीन अध्याय हैं। पहला अध्याय शिक्षा-वह्नी दूसरा ब्रह्मवह्नी या ब्रह्मानन्दवल्ली और तीसरा भृगुवह्नी कहलाता है। इन को शिक्षाऽध्याय, ब्रह्मवल्त्यध्याय और भृगुवल्त्यध्याय भी कहते हैं।

उपनिषद् के जिज्ञासु के लिए जो २ शिक्षाएं ब्रह्मविद्या से पहले आवश्यक हैं, उन का वर्णन पहले अध्याय में है। इसी लिए इस को शिक्षावह्नी और शिक्षाऽध्याय कहते हैं।

दूसरे अनुवाक के अन्त में जो कहा है 'इत्युक्तः शिक्षाध्यायः' इससे यह अभिप्राय नहीं लेना चाहिये, शिक्षाध्याय इसी अनुवाक का नाम समुचित है, किन्तु इस अनुवाक में जो शिक्षा है, वह वर्णों के उच्चारण की शिक्षा है। और वर्णों के उच्चारण की शिक्षा का नाम शिक्षाप्रसिद्ध है और था। इसलिए इस अनुवाक के अन्त में कहा है, 'इत्युक्तः शिक्षाध्यायः'। पर सातवें सारे प्रपाठक (१२ अनुवाकों) का नाम जो शिक्षा-

वल्ली वा शिक्षाऽध्याय है, वह उन सब प्रकार की शिक्षाओं के अभिप्राय से है, जो इस प्रपाठक में हैं ।

शिक्षावल्ली जो आरण्यक में सातवां प्रपाठक है, और यहां उपनिषद् में पहला अध्याय है, उस में १२ अनुवाक हैं । इस अध्याय में हर एक अनुवाक के समाप्ति होने पर कुछ प्रतीक दी गई है, और फिर अध्याय के समाप्ति होने पर एक दूसरे ही प्रकार की प्रतीक दी गई हैं, उन के समझने में लोगों का प्रायः भ्रान्ति हुई है । हम उनका आशय साथ २ खोलते जाएंगे । ब्रह्मानन्दवल्ली, जो आरण्यक में आठवां प्रपाठक और उपनिषद् का दूसरा अध्याय है, उस में ६ अनुवाक हैं । भृगुवल्ली जो आरण्यक में नवां प्रपाठक और उपनिषद् का तीसरा अध्याय है, उस में १२ अनुवाक हैं । इन दोनों अध्यायों में एक २ अनुवाक की समाप्ति में तो कोई प्रतीक नहीं दी गई, जैसे कि पहले अध्याय में थीं, किन्तु केवल अध्याय की समाप्ति में प्रतीक हैं, और वे एक नए ढंग पर हैं ।

मानुष जीवन का परम लक्ष्य अभय पद में स्थिति है, जो ब्रह्मज्ञान से प्राप्त होती है, और ब्रह्मज्ञान उक्त शिक्षाओं पर चलने से मिलता है, जो शिक्षावल्ली में कही हैं । विशेषतः ४, ६ और १० वें अनुवाक की शिक्षाएं लोक परलोक दोनों के सुधारने वाली हैं ॥

पहला अनुवाक ॥१॥

ओम् शन्नो मित्रः शंवरुणः । शन्नो भवत्वर्यमा । शन्न इन्द्रो बृहस्पतिः । शन्नो विष्णुरु-

रुक्रमः । नमो ब्रह्मणे । नमस्ते वायो । त्वमेव प्रत्यक्षं
ब्रह्मासि । त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि । ऋतं
वदिष्यामि । सत्यं वदिष्यामि । तन्मामवतु ।
तद्वक्तारमवतु । अवतु मासु । अवतु वक्तारम् ।
१३ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥१॥

सत्यं वदिष्यामि पञ्च च ॥ अनु० १ ॥ #

अर्थ—मित्र हमारे लिये सुखस्वरूप हो और वरुण सुख
रूप हो, अर्यमा हमारे लिये सुखरूप हो, इन्द्र और वृहस्पति

* 'सत्यं वदिष्यामि, पञ्च च' ये वाक्यों की प्रतीकें दी
हैं । इस का अर्थ यह है । सत्यं वदिष्यामि और पांच अर्थात्
'सत्यं वदिष्यामि' तक दस वाक्य हैं और उसके पीछे पांच
वाक्य और हैं । सारे पन्द्रह वाक्य इस अनुवाक में हैं । इसी तरह
आगे भी हर एक अनुवाक के पीछे गिनती दी गई है । गिनती
के लिए जहां दस वाक्य समाप्त होते हैं, वहां की प्रतीक दी
जाती है, जैसे यहां 'सत्यं वदिष्यामि' । इस के आगे यदि
और भी दस वाक्य होते, तो अगले दहाके की इस के आगे
प्रतीक देते, जैसे तीसरे अनुवाक में चार प्रतीकें दी हैं । अनु-
वाकों के मध्य में जो इस तरह कोष्ठ (१) के अन्दर १, २,
इत्यादि अंक दिये हैं, वह दहाकों की गिनती है । अन्तिम दहाके
में वे वाक्य मिला लिये जाते हैं, जो दस से अधिक हों, जैसे
यहां १ का अंक १५ वें वाक्य के पीछे है । अर्थात् इस अनुवाक

हमारे लिये सुखरूप हों, उरुक्रम (बड़ी पहंच वाला) विष्णु
 हमारे लिये सुखरूप हो ॥ नमस्कार है ब्रह्म को, नमस्कार है
 तुझे हे वायो ! तू ही प्रत्यक्ष ब्रह्म है । मैं तुझे ही प्रत्यक्ष ब्रह्म
 कहूंगा । ऋत कहूंगा । सत्य कहूंगा । वह (सत्य) मेरी रक्षा
 करे । वह वक्ता (आचार्य) की रक्षा करे । रक्षा करे मेरी,
 और रक्षा करे वक्ता की । ओम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥१॥

भाष्य—जिस तरह जीते जागते शरीर से जो कुछ प्रकाश पाता
 है, वह सब आत्मा के आश्रय है, आंख देखती है, कान सुनते
 हैं, वाणी बोलती है और मन सोचता है । यह सब जीवित
 पुरुष के धर्म आत्मा के प्रकाश से प्रकाशित हो रहे हैं । और
 आत्मा इन २ धर्मों के सहारे अलग २ नाम धारण करता है ।
 आंख के धर्म को लेकर वह द्रष्टा है और श्रोत्र के धर्म को
 लेकर श्रोता है । यद्यपि ये सारे नाम एक ही आत्मा के हैं,
 तथापि उन का सम्बन्ध अलग २ इन्द्रिय से है, जिस के द्वारा
 मैं वाक्यों का दहाका एक ही है । इसी तरह सब जगह गिन
 लेना चाहिये ॥

यह शान्ति पाठ है, जो इस उपनिषद् के आरम्भ में
 पढ़ा जाता है । इसका पढ़ने वाला शिष्य है, इसी लिये वह
 अपने लिये और आचार्य के लिये इन भिन्न वाक्यों से प्रार्थना
 करता है, 'वह मेरी रक्षा करे, वह वक्ता की रक्षा करे' ॥
 यहाँ भिन्न, वरुण, आदि शब्द व्यष्टि रूप में अपर (शबल) ब्रह्म
 के बोधक हैं । शबल ब्रह्म से यह अभिप्राय है, कि इस जगत्
 में सर्वत्र परमात्मा का प्रकाश है, जो अलग २ शक्तियों द्वारा
 अलग २ महिमा से प्रकाशित हो रहा है ।

आत्मा की वह शक्ति प्रकाशित होती है । आंज का अधिष्ठाता हो कर ही आत्मा द्रष्टा है, श्रोत्र का अधिष्ठाता हो कर वह द्रष्टा नहीं कहलाता । इसी प्रकार इस जीते जागते विश्व से जो कुछ प्रकाश पारहा है, वह सब उस परम आत्मा के आश्रय है । “ तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ”=उस के प्रकाश से यह सब प्रकाशित होता है । जिस के आश्रित आग जलती है, उसी के आश्रित सूर्य तपता है, और विजली चमकती है । यह इस जीवन्त विश्व के धर्म उस परम आत्मा के प्रकाश से प्रकाशित हो रहे हैं । और परमात्मा इन धर्मों के सहारे अलग २ नाम धारण करता है । सूर्य के धर्म को लेकर वह सूर्य है और विजली के धर्म को लेकर वह इन्द्र है । यद्यपि ये सारे नाम एक ही परम आत्मा के हैं, तथापि उनका सम्बन्ध इस विश्व की एक अलग २ दिव्य शक्ति से है, जिस के द्वारा परमात्मा की वह शक्ति प्रकाशित होती है । सूर्य का अधिष्ठाता हो कर वह सूर्य ही कहलाता है, विजली का अधिष्ठाता हो कर वह सूर्य नहीं कहलाता । इसी प्रकार विजली का अधिष्ठाता हो कर वह इन्द्र कहलाता है । यही शबल ब्रह्म है, यही अपर ब्रह्म है, यही इन्द्र आदि देवता हैं । वह एक ही परम देवता है, जो अधिष्ठान भेद से भिन्न २ नामों से पुकारा जाता है, ‘यो देवानां नामधा एक एव ’ (ऋग् १० । ८२ । ३)=जो एक ही सारे देवताओं के नाम धारण वाला है ।

स वरुणः सायमग्निर्भवति स मित्रो भवति प्रातरुद्यन् ।
स सविता भूत्वाऽन्तरिक्षेण याति स इन्द्रो भूत्वा तपति

मध्यतो दिवम्॥ (अथर्व० १३ । ३ । १३)

सौर्यकाल वह वरुण और अग्नि होता है, और प्रातःकाल उदय होता हुआ वह मित्र होता है, वह सविता हो कर अन्तरिक्ष से चलता है, वह इन्द्र होकर मध्य से धी को तपोता है ।

से धाता सं विधाता सं वायुर्नेम उच्छ्रितम् ॥ ३ ॥

सौज्यमा सं वरुणः सं रुद्रः सं महादेवः ॥ ४ ॥

सौ अग्निः सं उ सूर्यः सं उ एव महायमः ॥ ५ ॥ (अथर्व० १३।४)

वह धाता है, वह विधाता है, वह वायु है, वह ऊंचा मेघ है ॥३॥ वह अर्यमा है, वह वरुण है, वह रुद्र है, वह महादेव है ॥४॥ वह अग्नि है, वह सूर्य है, और वह ही महायम है ॥५॥

इस प्रकार अधिष्ठानभेद से नामभेद और धर्मभेद हो कर भी वही एक परम शक्ति का वर्णन है । इसी अधिष्ठान और धर्म के भेद से ही अलग २ देवता के तौर पर उस की स्तुति की जाती है, और इसी भेद को लेकर प्रार्थना में भेद होता है । हम बल मांगते हुए इन्द्र से मांगते हैं, क्योंकि उस रूप में परमात्मा बल के अधिपति है । हम पवित्रता चाहते हुए वरुण से प्रार्थी होते हैं, क्योंकि उस रूप में वह पवित्रता के अधिपति है । इस का अधिक विस्तार से वर्णन हम वेदोपदेश में देखेंगे, वहीं से देख लेना चाहिये ।

मित्र वरुण आदि शब्दों से परमात्मा की जो २ महिमा प्रकाशित होती है, इस का संविस्तर वर्णन एक अलग ग्रन्थ में होगा । यहां पूर्व सिद्धान्तित अर्थ को ही प्रकट करते हैं । मित्र अर्थात् प्राण और दिन का अधिपति (अर्थात् अध्यात्म

में प्राण का और बाह्य में दिन का अधिपति) वरुण=अपान और रात्रि का अधिपति, अर्यमा=आंख और सूर्य का अधिपति; इन्द्र=बल का अधिपति, बृहस्पति=याणी और बुद्धि का अधिपति; विष्णु=गति का अधिपति ।

इनकी अनुकूलता की प्रार्थना इस लिये है, कि इनके अनुकूल होने से अध्यात्मशक्तियों में स्वास्थ्य, बल और दृढ़ता आती है, जिससे बिना विघ्न पराविद्या का अभ्यास हो सकता है । विद्या की सफलता इस में है, कि उसके तत्त्व अर्थ को समझे, उसके स्वयं धारण करें, और दूसरों की सिखावें । यह सब अध्यात्मशक्तियों की स्वस्थता में ही हो सकता है । इस तरह मित्र, वरुण आदि व्यष्टि रूपों में ब्रह्मकी अनुकूलता मांग कर 'नमो ब्रह्मणे' इत्यादि से सूत्रात्मा वायु की घन्दना की है और उससे रक्षा मांगी है । सब कर्मफल सूत्रात्मा के अधीन हैं । इस लिये ब्रह्मविद्या में विघ्नों की शान्ति के लिये उससे प्रार्थना की गई है । यहाँ ब्रह्म से अभिप्राय अपरब्रह्म सूत्रात्मा से है, जिस में सारा विश्व ओत प्रोत हो रहा है, उसी को आगे वायु शब्द से कहा है । यह सूत्रात्मा सम्पूर्ण विश्व का एक जीवन है और यह आध्यात्मिक प्राण वायु रूप से प्रत्यक्ष ब्रह्म है ।

जो नियम इस सृष्टि के चलाने वाले हैं, जिनके अधीन इस सारे विश्व का प्रबन्ध है, और जो मनुष्य की भलाई के लिये सदा काम करते रहते हैं, उन नियमों का नाम ऋत है, और वही नियम जब अनुष्ठान (अमल) में आता है, तो संत्य कहलाते हैं । ये नियम आध्यात्मिक और आधिदैविक जगत

में दोनों जगह काम करते हैं, इनके अनुकूल आचरण हा सचाई है, धर्म है, सच्चा रास्ता है। जिज्ञासु को चाहिये, कि वह सदा ऋत और सत्य ही बोले और ऐसा जाने कि यही मेरे और मेरे आचार्य के रक्षक हैं ॥ “ ये ऋत और सत्य सूत्रात्मा के अधीन हैं, इनका अधिष्ठाता सूत्रात्मा है, इस लिये सूत्रात्मा की महिमा में ये वचन कहे हैं, मैं (तुम्हें ही को) ऋत कहूँगा, तुम्हें ही को सत्य कहूँगा । वन्दना और स्तुति के पीछे वह ब्रह्मविद्या का अर्थो यह दो वर मांगता है, कि वह ब्रह्म (सूत्रात्मा) मुझे विद्या के ग्रहण की शक्ति और आचार्य को उसके कहने की शक्ति देने से हमारी रक्षा करे। (शंकराचार्य) ॥ गुरु की और अपनी रक्षा में आदर जितलाने के लिये दुबारा उन्हीं वाक्यों को कहते हुए ‘तत्’=वह, शब्द को छोड़ दिया है और ‘अवतु’=रक्षा करे, शब्द को पहले कर दिया है ॥

“ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ” तीन बार कहने से यह अभिप्राय है, कि सब कुछ हमारे लिये शान्तिमय हो। हमारी विद्याप्राप्ति में न आध्यात्मिक, न आधिभौतिक और न कोई आधिदैविक विघ्न प्राप्त हो।

दूसरा अनुवाक ॥ २ ॥

ओं शिक्षां व्याख्यास्यामः । वर्णः स्वरः । मात्रा बलम् । साम सन्तानः । इत्युक्तः शिक्षाध्यायः ।

श्रीक्षां पञ्च* ॥२॥

हम शिक्षा (उच्चारण के नियमों) की व्याख्या करेंगे ।
वर्ण, स्वर, मात्रा, प्रयत्न, साम और सन्धि । यह शिक्षाध्याय
कहा गया है । ॥ २ ॥

* इस अनुवाक में 'श्रीक्षां' से लेकर पांच वाक्य हैं ।
जहां दस वाक्य समाप्त होते हैं, वहां दसवां वाक्य पूरा वा
अधूरा लिख कर उसके पीछे जितने वाक्य हों, उनकी गिनती
दे दी है । जैसे पहले अनुवाक में 'सत्यं वदिष्यामि' दसवां
वाक्य है, और उसके पीछे पांच वाक्य और आए हैं, इस लिये
वहां 'सत्यं वदिष्यामि पञ्च च' ऐसा लिखा है । और यहां
सारे ही पांच वाक्य हैं, इस लिये आरम्भ का एक ही (श्रीक्षां)
पद (न कि सारा वाक्य) लिख कर उसके पीछे 'पञ्च'
दिया है ॥

† शान्ति पाठ के पीछे अब सबसे पहले पाठ पढ़ने की
शिक्षा देते हैं अर्थात् पाठ पढ़ने में किन बातों का ध्यान रखना
चाहिये । यह कि (१) वर्ण (अ, आ, आदि अक्षर) ठीक २
उच्चारण हों । स वा श की जगह य, अथवा श, य, की जगह
य, अथवा श, य, की जगह स न उच्चारण किया जाय इत्यादि ।
(२) स्वर=उदात्त आदि अर्थात् उच्चारण करने में किस अक्षर
पर बल देना चाहिये इत्यादि नियम । ऐसा न हो, कि जिस
अक्षर पर बल डालना है, उस पर बल न डाला जाए वा
किसी-दूसरे पर बल डाला जाए । (८) मात्रा=ह्रस्व, दीर्घ और
प्लुत । इन मात्राओं को साफ २ प्रकट करो । दीर्घ और प्लुत

तीसरा अनुवाक ॥ ३ ॥

सह नो यशः । सह नो ब्रह्मवचसम् ।

यश हम दोनों (आचार्य और शिष्य) का साथ हो
ब्रह्मवचस हम दोनों का साथ हो ॥अथातः संहिताया उपनिषद व्याख्या-
स्यामः । पञ्चस्वाधिकरणेषु । अधिलोकमधि-
ज्यौतिषमधिविद्यमधिप्रजमध्यात्मम् । ता महा-
संहिता इत्याचक्षते । अथाधिलोकम् । पृ-

को ह्रस्व, और ह्रस्व को दीर्घ वा व्यञ्जन न बना डाली। (४) प्रत्यय, वर्णों की बनावट में बाह्य और आन्तरिक जैसा प्रत्यय चाहिये, वैसा करी। (५) साम = स्वर से पढ़ना। मधुर स्वर से पढ़ो। तुम्हारा कण्ठ रुखा फीका न हो। (६) सन्धि, पदों को मिला कर पढ़ना। पद २ को काट २ कर न पढ़ो ॥

* वेद के पढ़ने और धर्म के पालने से जो यश है, यहाँ उस यश से अभिप्राय है। और ब्रह्मवचस वह तेज है, जो वेद के पढ़ने और उसके अनुकूल आचरण से चेहरे पर चमकता है। इन दोनों फलों के लिये यह प्रार्थना भी शिष्य की ही है। 'श्रीर्नमिन्नः' इत्यादि से यह प्रार्थना इस लिये अलग पढ़ी गई है, कि यह केवल इस संहिताउपनिषद् के साथ सम्बन्ध रखती है। और उस पहली प्रार्थना का सम्बन्ध सारी शिक्षावली से है।

थिवी पूर्वरूपम् । द्यौरुत्तररूपम् । आकाशः
 सन्धिः (१) वायुः सन्धानम् । इत्यधिलोकम् ।
 अथाधि ज्यौतिषम् । अग्निः पूर्वरूपम् । आदि-
 त्य उत्तररूपम् । आपः सन्धिः । वैद्युतः सन्धा-
 नम् । इत्यधिज्यौतिषम् । अथाधिविद्यम् ।
 आचार्यः पूर्वरूपम् । (२) अन्तेवास्युत्तर-
 रूपम् । विद्या सन्धिः । प्रवचनसन्धानम् ।
 इत्यधिविद्यम् । अथाधिप्रजम् ॥ माता पूर्वरू-
 पम् । पित्तोत्तररूपम् । प्रजा सन्धिः । प्रजनन
 ५ सन्धानम् । इत्यधिप्रजम् (३) अथाध्यात्मम् ।
 अधरा हनुः पूर्वरूपम् । उत्तरा हनुरुत्तररूपम् ।
 वाक् सन्धिः । जिह्वा सन्धानम् । इत्यध्यात्मम् ।
 इतीमा महासहिताः । य एवमेता महास-
 ५ हिता व्याख्याता वेद । सन्धीयते प्रजया-
 पशुभिः ब्रह्मवर्चसेनान्नाद्येन सुवर्ग्येण लोकेन (४)

सन्धिः, आचार्यः पूर्वरूपम्, इत्यधिप्रजं, लोकेन ॥ ३ ॥

अथ संहिता की उपनिषद् पांच अधिकरणों (मर्हों) में

चतुर्लापंगे । लोकों के सम्बन्ध में, दिव्य ज्योतियों के सम्बन्ध में, विद्या के सम्बन्ध में, सन्तान के सम्बन्ध में और शरीर के सम्बन्ध में । इन (पाँचों) को महासंहिता कहते हैं ।

पहिली लोकों के सम्बन्ध में है । पृथिवी पृथ्वी रूप है, द्यौ उत्तर रूप है, आकाश मिलाप (सन्धि) है, वायु मिलाने वाला (सन्धान) है । यह लोकों के सम्बन्ध में है ।

अथ ज्योतियों के सम्बन्ध में कहते हैं । अग्नि पूर्वरूप है, सूर्य उत्तररूप है, पानी संधि है, और बिजली मिलाने वाली है । यह ज्योतियों के सम्बन्ध में है ।

अथ विद्या के सम्बन्ध में कहते हैं । आचार्य पूर्वरूप है । शिष्य उत्तररूप है, विद्या सन्धि है, पढ़ाना (प्रवचन) मिलाने वाला है । यह विद्या के सम्बन्ध में है ।

अथ सन्तान के सम्बन्ध में कहते हैं । माता पूर्वरूप है, पिता उत्तर रूप है, प्रजा उनकी सन्धि है, और उत्पादन का कर्म मिलाने वाला है । यह सन्तान के सम्बन्ध में है ।

अथ शरीर के सम्बन्ध में कहते हैं । निखला जवड़ा पूर्वरूप है, ऊपर का जवड़ा उत्तररूप है, बाणी सन्धि है, और जिह्वा मिलाने वाली है । यह शरीर के सम्बन्ध में है । सो ये महासंहिता हैं ।

जो इस प्रकार इन महासंहिताओं को जानता है, जैसा कि यहाँ व्याख्या की गई है, वह सन्तान से, पशुओं से, ब्रह्म-चर्चस से, खुराक से, और स्वर्गलोक से मिलता है (अर्थात् इन को प्राप्त होता है) । ३ ।

व्याख्या—यह संहिता का ज्ञान जो पांच मर्दों में बत-
लाया है, इसको बहुत सोचा विचारा, पर फिर भी इसका
असली रहस्य समझ में नहीं आया । उपनिषद्‌ों के मर्मज्ञ
विद्वान् संन्यासियों से पूछने पर इसका इतना ही प्रयोजन-
ज्ञात हुआ है, कि यह विशेष उपासना है, जो परम्परागत
(सीना घसीना चली आती) हैं । पर अब इन का जानने
वाला शायद ही कहीं कोई हो । संस्कृत भाष्यकारों ने केवल
इतना ही लिखा है, कि जहां वेद में सन्धि होती है, वहां इन
का ध्यान करना चाहिये । जैसे जहां अ और उ मिल कर ओ
हुआ है, वहां अ को पृथिवीलोक, उ को द्यौलोक, और इन
दोनों के अन्तराल (मध्य देश) को आकाश, और इन के
मिलाने से जो ओ हुआ है, उसको वायु ध्यान करना चाहिये,
बस इसी तरह दूसरी उपासनाओं को भी खयाल करें ।

चौथा अनुवाक ॥ ४ ॥

यश्छन्दसामृषभो विश्वरूपः । छन्दोभ्योऽध्य-
मृतात् संवभूव । स मेन्द्रो मेधया स्पृणोतु । अमृत-
स्य देव धारणो भूयासम् । शरीरं मे विचक्षणं, जि-
ह्वा मे मधुमत्तमा । कर्णाभ्यां भूरि विश्रुवम् । ब्रह्मणः
कोशोऽसि मेधया पिहितः । श्रुतं मे गोपाय ।
आवहन्ती वितन्वाना (१) कुर्वाणा ऽन्नीर-

मात्मनः । वासांसि मम गावश्च । अन्नपाने
 च सर्वदा । ततो मे श्रियमावह । लोमशां
 पशुभिः सह स्वाहा । आमायन्तु ब्रह्मचारिणः
 स्वाहा । विमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा । प्रमा-
 यन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा । दमायन्तु ब्रह्म-
 चारिणः स्वाहा । शमायन्तु ब्रह्मचारिणः
 स्वाहा । (२) यशो जने ऽसानि स्वाहा ।
 श्रेयान्वस्यसो ऽसानि स्वाहा । तं त्वा भग-
 प्रविशानि स्वाहा । स मा भग प्रविश स्वाहा
 तस्मिन्तसहस्रशाखे । निभगाऽहं त्वयि मृजे
 स्वाहा । यथा ऽऽपः प्रवता यन्ति । यथा मा-
 सा अहर्जरम् । एवं मां ब्रह्मचारिणः । धातुरा-
 यन्तु सर्वतः स्वाहा । प्रतिवेशोऽसि प्र मा भाहि
 प्र मा पद्यस्व (३)

वितन्वाना, शमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा, धातुरायन्तु
 सर्वतः स्वाहा एकञ्च ॥ ४ ॥

जो इन्द्र वेदों में श्रेष्ठ है सारे रूपों वाला है वह वेदों से अमृत से प्रकट हुआ है । वह इन्द्र मुझे मेधा से बलवान् बनाए । हे देव ! मैं अमृत (=वेदार्थज्ञान) का धारने वाला होऊँ ॥

मेरा शरीर योग्य हो । मेरी वाणी बड़ी मीठी हो । मैं कानों से बहुत सुनूँ (मुझे आचार्यों से बहुत कुछ उपदेश मिले) । तू मेधा से दया हुआ, ग्रह का कोश (मियान) है, मेरे श्रुत (आचार्यों से सुने हुए) की रक्षा कर ।

तब मुझे वह श्री (खुशी) ला दे, जो पशुओं से रोमों वाली हो, (रोमों वाले पशु मेरे पास हों) और जो हर एक समय मेरे लिए वस्त्र और गीओं को, अन्न और पान को लाने वाली फैलाने वाली और बिना देर के अपना बनाने वाली (खुशी के रूप में बदलने वाली) हो, स्वाहा ! ग्रहचारी (वेद के विद्यार्थी) मेरे पास आएँ, स्वाहा ! ग्रहचारी सब तरफ से मेरे पास आएँ, स्वाहा ! ग्रहचारी प्रयत्न से मेरे पास आएँ, स्वाहा ! सिधे हुए (अपने आप को वश में रखने वाले) ग्रहचारी मेरे पास आएँ, स्वाहा ! शान्त ग्रहचारी मेरे पास आएँ, स्वाहा !

मनुष्यों में मैं यशरूप हो जाऊँ, स्वाहा ! मैं बड़े अमीर से श्रेष्ठ हो जाऊँ, स्वाहा ! मैं हे भगवन् ! उस तुझ में प्रविष्ट होऊँ, स्वाहा । तू हे भगवन् ! मुझ में प्रविष्ट हो, स्वाहा ! हे भगवन् ! उस तुझ में जिस की सदृशों शास्त्रार्थ (शबलरूप) हैं, मैं अपने आप को शोधन करता हूँ, स्वाहा ! जैसे जल निचोई को ओर भागते हैं, जैसे महीने घर में जा मिलते हैं, इस प्रकार वे धातः । (पैदा करने वाले) ग्रहचारी सब ओर से मेरे पास

आवेँ स्वाहा ! तू विश्राम का स्थान (जायपनाह) है, मुझे (जगत् में) चमका, मुझे अपनी शरण में ले, स्वाहा ! ॥ ४॥

भाष्य—ये मन्त्र प्रार्थना और हवन के हैं, उन के लिये जो मेधा और श्री चाहते हैं । जैसा कि कहा है 'वह इन्द्र मुझे मेधा से बलवान् करे' और 'तब मेरे लिये श्री को ला, । गुरु चाहता है कि वह मेधा वाला हो, जिस से वह विद्यार्थियों को विद्या देने के योग्य हो, और कि उस के पास बहुतायत से अन्न, वस्त्र और गौर्ष हों, और फिर उस के पास चारों ओर से योग्य विद्यार्थी आवें और वेदों को पढ़ें । यह सारी प्रार्थना (ओम्) परमेश्वर से की गई है । ओम् शबलरूप में सारे रूपों वाला है । वेद अमृत हैं, और ओम् सारे वेदों का सार है, यह ब्रह्म का निज नाम है ।

शरीर के आरोग्य होना आदि के बिना मेधा भी निष्फल जाती है, इस लिए मेधा के अनन्तर मेरा शरीर आरोग्य हो-इत्यादि से शरीर के आरोग्य और पुष्टि की प्रार्थना की है ॥

'तू मेधा से ढपा हुआ ब्रह्म का कोश है' = वह मियान, जिस के अन्दर चमकता हुआ ब्रह्म विराजमान है, वह ओम् है, अर्थात् लौकिक बुद्धि से ढपा हुआ है, सामान्य बुद्धि वाले तेरे तत्त्व को नहीं जानते हैं, (शंकरचार्य) ।

'तब मुझे वह श्री ला दे...' मेधा की प्रार्थना के मन्त्र समाप्त करके ये उस के पीछे श्री की प्राप्ति के लिए होम के मन्त्र हैं । स्वाहा के अन्त में आहुति डालनी चाहिये । रोमों वाली से अभिप्राय है कि मेड़ आदि पशु मेरे पास हों, जिन के रोमों से वस्त्र बनते हैं ।

संगति—सोंकार की उपासना कह कर अब व्याहृतियों के द्वारा अपर ब्रह्म की उपासना स्वराज्यफल की सिद्धि के लिए घटलाते हैं ।

पांचवां अनुवाक ॥ ५ ॥

भूर्भुवः सुवरिति वा एतास्तिस्रो व्याहृतयः । तासामुहस्मैतां चतुर्थीम् । माहात्म्यस्य प्रवेदयते । मह इति । तद्ब्रह्म । स आत्मा । अज्ञान्यन्या देवताः । भूरिति वा अयं लोकः । भुव इत्यन्तरिक्षम् । सुवरित्यसौलोकः (१) । मह इत्यादित्यः । आदित्येन वाव सर्वे लोका महीयन्ते । भूरिति वा अग्निः । भुव इति वायुः । सुवरित्यादित्यः । मह इति चन्द्रमाः । चन्द्रमसा वाव सर्वाणि ज्योतिषि महीयन्ते । भूरिति वा ऋचः । भुव इति सामानि । सुवरिति यजूंषि (२) । मह इति ब्रह्म । ब्रह्मणा वाव सर्वे वेदा महीयन्ते । भूरिति वै प्राणः । भुव इत्यपानः । सुवरिति व्यानः । मह इत्यन्नम् ।

अग्नेन वाँ सर्वे प्राणा महीयन्ते । ताँ वाँ एता-
 श्रतसश्चतुर्धा चतसश्चतसो व्याहृतयः । ता यो
 वेद । स वेद ब्रह्म । सर्वेऽस्मै देवा वलिमावहन्ति । ३

असौ लोको, यजू ॐ, पि, वेद, द्वे च ॥ १॥१॥

भूः, भुवः, स्वः, ये तीन व्याहृतियें हैं, माहाचमस्य (महाच-
 मस गोत्रवाले ऋषि) ने उनमें एक चौथी (व्याहृति) बतलाई है-
 'महः' । वह ब्रह्म है । वह आत्मा है । दूसरे देवता इस के
 ब्रह्म हैं* ।

भूः, यह लोक (पृथिवी) है, भुवः, अन्तरिक्ष है, स्वः, यह
 लोक (धौलोक) है, महः सूर्य है । सूर्य से सारे लोक महिमा
 वाले हैं । भू अग्नि है, भुवः वायु है, स्वः सूर्य है, महः चन्द्रमा

* - भूः, भुवः, स्वः, ये तीन व्याहृतियें प्रसिद्ध हैं । इनमें
 चौथी महः है, जिसको माहाचमस्य ने पहले पहल देखा है ।
 इन तीनों व्याहृतियों से जो २ शक्तियें अभिप्रेत हैं, उनमें चौथी
 व्याहृति ब्रह्म की जगह है, जो स्वयं अपनी महिमा रखती हुई
 दूसरों की महिमा वाली बना देती है, और यह आत्मा इस
 लिए है, कि दूसरी व्याहृतियें उसका अंग बन जाती हैं, और
 यह मध्यभाग के तौर पर समझी जाती है । शरीर का मध्य
 भाग जो घड़ है, वह हाथ आदि अङ्गों की वृद्धि का हेतु है,
 इस लिये वह उनका आत्मा कहलाता है । इसी प्रकार लोक
 आदि की महिमा का हेतु होने से आदित्य आदि उनका
 आत्मा हैं ॥

है। चन्द्रमा से संयुज्योतिये (नक्षत्र) महिमा वाली होती है। भूः, भृक्षाणं हैं, भुवः, साम हैं, स्वः, यंलु-है, महः ब्रह्म है ॥ ब्रह्म से सारे वेद महिमा वाले हैं। भूः प्राण है, भुवः अपान है, स्वः, ध्यान है, महः, अन्न है। अन्न से सारे प्राणी महिमा वाले हैं। सो ये चार (व्याहृतिये) चार प्रकार की हैं † चार २ व्याहृतिये हैं। जो इनको जानता है, वह ब्रह्म को जानता है, सारे देवता इसके लिए बलि लाते हैं ॥ ५ ॥

छठा अनुवाक ॥ ६ ॥

स य एषो ऽन्तर्हृदय आकाशः । तस्मिन्न-
यं पुरुषो मनोमयः । अमृतो हिरण्मयः । अन्त-
रेण तालुके । यः एष स्तन इवावलम्बते । सेन्द्र-
योनिः । यत्रासौ केशान्तो विवर्तते । व्यपोह्य
शीर्षकपाले । भूरित्यग्नौ प्रतितिष्ठति । भुव इति
वायौ । (१) सुवरित्यादित्ये । मह इति ब्रह्म-
णि । आप्नोति स्वाराज्यम् । आप्नोति मनसस्प-

* ब्रह्म यहां ओम् है शब्द के अधिकार में ब्रह्म का यही अर्थ सम्भव है ।

† एक २ व्याहृति जब चार २ प्रकार से उपासना की जाय, तो सोलह कला वाला पुरुष उपासना किया जाता है (आनन्दगिरि)

तिम् । वाक्पतिश्चक्षुष्पतिः । श्रोत्रपतिर्विज्ञान-
पतिः । एतत्तत्तो भवन्ति । आकाशरीरं ब्रह्म ।
सत्यात्म प्राणाराम मन आनन्दम् । शान्तिस-
मृद्धममृतम् । इति प्राचीनयोग्योपास्व (२) ।

वायु, अमृत, एकज्ज । अनु ६ ।

यह जो हृदय के अन्दर आकाश है, उसमें यह पुरुष है,
जो मनका मालिक अमृत और सुनेहरी (ज्योतिर्मय) है * ।
दोनों तालुओं के मध्य में जो यह (मांस का एक टुकड़ा) स्तन-
सा लटकता है, यह इन्द्र (जीवात्मा) का स्थान है । अब
जहाँ बालों की जड़ अलग २ होती है (मूर्धा में), वहाँ वहाँ
(जीवात्मा) सिर के दोनों कपालों को खोल कर, भूः कहता
हुआ अग्नि में प्रविष्ट होता है; भुवः कहता हुआ वायु में प्रविष्ट
होता है, स्वः कहता हुआ सूर्य में अविष्ट होता है ।
महः कहता हुआ ब्रह्म (हिरण्यगर्भ) में प्रविष्ट होता
वहाँ वह स्वाराज्य को प्राप्त होता है । वह मन का पति हो

* यह आत्मा का स्थान और स्वरूप वर्णन किया है ।
इसके आगे जो 'दोनों तालुओं के मध्य में' इत्यदि से मार्ग
बतलाया है, यह वह मार्ग है जिससे उपासक का लिङ्गशरीर
मृत्यु के समय बाहर निकलता है । वह मार्ग सुषुम्ना नाडी है,
जो तालुओं के मध्य में से होकर मूर्धा तक पहुँची है । वहाँ वहाँ
सिर के दोनों कपालों को खोल कर भूः भुवः स्वः महः की उपा-
सना की वासनानुसार अग्नि, वायु, सूर्य और ब्रह्मलोक को
प्राप्त होता है ।

(गीर्वाणम्)

जोता है । वह बाणी का पति होजाता है । नैत्र का पति, श्रोत्र का पति और विज्ञान का पति होजाता है (मन, बाणी, नैत्र, श्रोत्र, उसके घस में होते हैं), इससे आगे बढ़ कर वह ब्रह्म होता है*, जिसका शरीर आकाश है, जिसका स्वभाव सचाई है । वह इन्द्रियों में रमण करता है, मन में आनन्द वाला, शान्ति में पूर्ण है और धमृत है, इस प्रकार है प्राचीनयोग्य । नू उसकी उपासना कर ।

सातवां अनुवाक ॥ ७ ॥

संगति-यज्ञ और उपासनाओं के विषय में जो बाह्य और अध्यात्म शक्तियों का आपस में सम्बन्ध है, उस का घणन—

पृथिव्यन्तरिक्षं द्यौर्दिशोऽवान्तरदिशः । अ-
ग्निर्वायुरादित्यश्चन्द्रमा नक्षत्राणि । आप ओ-
षधयो वनस्पतय आकाश आत्मा । इत्यधि-
भूतम् । अथाऽध्यात्मम् । प्राणो व्यानोऽपान
उदानः समानः । चक्षुः श्रोत्रं मनो वाक् त्वक् ।
जर्ममांस स्नावास्थि मज्जा । एतदधि विधाय

* अर्थात् मुक्त होता है, मुक्ति में ब्रह्म के सहस्र होने से ब्रह्म कहा जाता है ।

† यह माहात्म्यम् ने अपने शिष्य प्राचीनयोग्य को उप-
देश किया है ?

अपिरेवोचत् । पाङ्क्तवा इदं सर्वम् । पाङ्-
क्तनेत्रं पाङ्क्तं स्पृणातीति ॥ १ ॥

सर्वम्, एकं च । अनु० ७ । पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौः, दिशाएँ और अवान्तर दिशाएँ* । अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्रमा और नक्षत्र । जल, ओषधियें, वनस्पति, आकाश, और आत्मा (विश्वात्मा, विराट्) । यह सब बाह्य भूतों के साथ सम्बन्ध रखता है । अब जो शरीर के साथ सम्बन्ध रखते हैं उनको बतलाते हैं, प्राण, व्यान, अपा-
न, उदान, समान, नेत्र, श्रोत्र, मन, वाणी, त्वचा, चर्म, मांस, नाडी, हड्डी, और चर्वों, यह सब पाङ्क्त (लोक, देवता, भूत, प्राण, इन्द्रिय, और धातुओं की पांच की पाङ्क्ति) कह कर ऋषि ने बतलाया है, जो कुल यह है, यह सब पाङ्क्त है (पांच की संमूह है) ।

पाङ्क्त के द्वारा ही यह दूसरे पाङ्क्त को बलवान् बना देता है* (जो उपासना से बाह्य और अध्यात्म पाङ्क्त को एक बना लेता है) ।

* यह लोक पाङ्क्त (पांच की संमूह) है । यह देवता पाङ्क्त है । यह भूत पाङ्क्त है । यह तीनों पाङ्क्त बाह्य जगत् के साथ सम्बन्ध रखते हैं । यह प्राण पाङ्क्त है । यह इन्द्रिय पाङ्क्त है । यह शरीर के धातुओं का पाङ्क्त है । यह तीनों पाङ्क्त शरीर के साथ सम्बन्ध रखते हैं ।

** अध्यात्म पाङ्क्त से बाह्य पाङ्क्त को, और बाह्य पाङ्क्त से अध्यात्म पाङ्क्त को बलवान् बनाता है ।

आठवां अनुवाक ॥ ८ ॥

संगति-ओंकार परापर ब्रह्म की प्राप्ति का साधन है, इस हेतु से यह सारे वैदिक कर्मों और सारी उपासनाओं का अंग माना गया है, यह दिखाता है—

ओमिति ब्रह्म । ओमितीदं सर्वम् । ओमित्येतदनुकृतिहस्मवे । अप्योश्चावयेत्याश्चावयन्ति । ओमिति सामानि गायन्ति । ओ ५ शोमिति शस्त्राणि श ५ सन्ति । ओमित्यध्वर्युः प्रतिगरं प्रतिगृणाति । ओमिति ब्रह्माप्रसौति । ओमित्यभिहोत्र मनुजानाति । ओमिति ब्राह्मणः प्रवक्ष्यन्नाह ब्रह्मोपाप्रवानीति ब्रह्मैवोपाप्नोति । (१)

ओं दश । अनु० ८ ॥
१-ओम् यह ब्रह्म है (ब्रह्म का वाचक है), २-ओम् यह सर्वकुछ है (समष्टि, व्यष्टि, रूप शेषल ब्रह्म का वाचक है), ३-ओम्, यह आत्मा मानता है (जा, पद इत्यादि कहने पर छोटे उस आत्मा को अंगीकार करते हुए 'ओम्' कहते हैं, अर्थात् ओम् अंगीकार का वाचक है), (न केवल लौकिक व्यवहार का ही ओम् कारण है, किन्तु वैदिक सारे व्यवहारों में भी कारण है यह बतलाते हैं) ४-किञ्च-ओ (ओम्) सुना (मन्त्र सुना) ऐसा कहने पर (ऋत्विज) मन्त्रों को सुनाते हैं, ५-ओम्

कह कर साम गाते हैं। ६-ओं शों (शम्+ओम्=शोम्=सुख रूप ओम्) कह कर शस्त्रों (ऋग्वेद के मन्त्रविशेषों) को पढ़ते हैं। ७-ओम् कह कर (सोमयज्ञ में) यजुर्वेद प्रतिगर् (प्रोत्साहक मन्त्र विशेष) पढ़ता है। ८-ओम् कह कर ब्रह्मा (कर्म करने की) अनुज्ञा देता है। ९-ओम् कह कर अग्निहोत्र की अनुज्ञा देता है। १०-जब कोई ब्राह्मण वेद का प्रवचन करना (पढ़ाना, या व्याख्यान कहना) चाहता है, तो वह ओम् कहता है, इस अमिषा से, कि मैं ब्रह्मा (वेद) को प्राप्त हूँ, और इस प्रकार वह ब्रह्मा को अर्पण पा लेता है ॥ १॥

नया अनुवाक ॥ १ ॥

संगति—वेद के विचार प्रचार से और वैदिक जीवन के धारण से जन्म सकल होता है यह विश्वकति है ॥ १ ॥

ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च । सत्यं च स्वाध्यायप्रवचने च । तपश्च स्वाध्यायप्रवचने च । दमश्च स्वाध्यायप्रवचने च । शमश्च स्वाध्यायप्रवचने च । अमयश्च स्वाध्यायप्रवचने च । अमिहोत्रं च स्वाध्यायप्रवचने च । अतिथयश्च स्वाध्यायप्रवचने च । मानुषं च स्वाध्यायप्रवचने च । प्रजा च स्वाध्यायप्रवचने च । प्रजनश्च स्वाध्यायप्रवचने च । प्रजातिश्च स्वाध्यायप्रवचने च । सत्यमिति

सत्यवंचां राधीतरः । तप इति तपोनित्यः ।
पौरुशिष्टिः । स्वाध्यायप्रवचने एवेति नाको
मौद्गल्यः । तद्धि तपस्तद्धि तपः (१) ।

प्रज्ञाच्च स्वाध्यायं प्रवचनैश्च, पट्टच्च । अनु० ६ ॥

* ऋत, और स्वाध्याय और प्रवचन (वेद का विचार और प्रचार) । सत्य, और स्वाध्याय और प्रवचन । तप, और स्वाध्याय और प्रवचन । मन को शान्त रखना और स्वाध्याय और प्रवचन । इन्द्रियों का दमन करना और स्वाध्याय और प्रवचन । अग्नि (स्थोपास करनी) और स्वाध्याय और प्रवचन । अग्निहोत्र और स्वाध्याय और प्रवचन । अतिथि (अतिथियों की सेवा करना) और स्वाध्याय और प्रवचन । मानुष (लौकिक व्यवहार) और स्वाध्याय और प्रवचन । संन्तान (का पालन पोषण) और स्वाध्याय और प्रवचन । (संन्तान का उत्पादन

* यह अनुवाक इस बात के प्रकट करने के लिये है, कि केवल वेदों का पढ़ना ही मनुष्य का परम उद्देश्य नहीं, किन्तु वैदिक जीवन जिसका यहाँ ऋत आदि शब्दों से वर्णन है, वह उस का उद्देश्य है, हाँ साथ ही वेद का स्वयं विचार करना और विचारे हुए को दूसरों तक पहुँचाना ये दोनों काम ऋत के तौर पर सदा प्रवृत्त रहने चाहिये, इसी लिये प्रत्येक कर्म के साथ वेद का पढ़ना पढ़ाना कहा है । ऋत और सत्य के अर्थ पहले अनुवाक में लिख आए हैं ।

करना) और स्वाध्याय और प्रवचन । पुत्र-पोतों से फैलाव और स्वाध्याय और प्रवचन ।

सत्यवचा रथीतर गोत्री मानता है, कि संचाई ही आवश्यक है । पुरुशिष्ट को पुत्र-तपोनित्य मानता है, कि तप-केवल आवश्यक है * । मुद्गल का पुत्र-नाक मानता है; कि स्वाध्याय और प्रवचन ही आवश्यक हैं, क्योंकि वह ही तप है, वह ही तप है । (२) ॥ ९ ॥

अहं वृक्षस्य रेरिवा । कीर्तिः पृष्ठं गिरेरिव ।
ज्वेपवित्रो वाजिनीव स्वमृतमस्मि । द्रविण
सुवर्चसम् । सुमेधा अमृतोक्षितः । इति
त्रिशंकोवेदानुवचनम् (१) । अहं वृक्षस्य रेरिवा । अनु० १० ।

मैं (संसार-रूपी) वृक्ष को हिलाने वाला हूँ । मेरी कीर्ति पर्वत के शिखर की नाई है । मैं वह हूँ जिस (के ज्ञान)

* सत्यवचा नाम है, अथवा सत्यवादी । तपोनित्य नाम है अथवा तप में तत्पर ।

स्वाध्याय और प्रवचन के तल्य कोई तप नहीं है । इस लिए यह ही अनुष्ठेय है ।

का पवित्र (प्रकाश) ऊँचा उदय हुआ है * मानो सूर्य में है ।
 मैं यह हूँ जो असली अमृत हूँ । मैं चमकता हुआ धन (वज्राना)
 हूँ । मैं सुमेधा हूँ, अमृत हूँ, क्षीण न होने वाला । यह विशङ्कु
 का वेदोपदेश है, (यह वेद की शिक्षा विशङ्कु से दी गई है) ॥१०॥

भाष्य—पूर्वोक्त वेदविचार प्रचार और वैदिक जीवन
 के धारण से हृदय की शुद्धि हो कर विशङ्कु ऋषि को यह
 आर्षभान विना उपदेश के प्रकट हुआ । आत्मज्ञान के उदय से
 कृतकृत्य हो कर ऋषि ने अपनी कृतकृत्यता को इस में गाया
 है । अब भी जो कोई पूर्वोक्त धर्मों और स्वाध्याय और प्रवचन
 का नियम से पालन करेगा, वह इसी प्रकार शुद्ध हृदय में
 अर्त्ता के दर्शन करके कृतकृत्य हो जायगा ।

ग्यारहवां अनुवाक ॥ ११ ॥

संगति-वेदाध्ययन के पीछे जिस प्रकार लोक में रहना
 चाहिये, उस को लिये आचार्य अपने शिष्य को शिक्षा देता है,
 जब वह विद्या पढ़ कर घर वापिस होने को है :-

वेदमनूच्याचार्योऽन्तर्वासिन मनुशास्ति ।

सत्यं वद । धर्मं चर । स्वाध्यायान्मा प्रद ।

* ऊर्ध्व=कारण, पवित्र=पावन, घ्राण, जिस का कारण
 पावन घ्राण है वह मैं हूँ । शोभन अमृत=शुद्ध आत्मतत्त्व, अथवा
 अमृत से सेवन किया हुआ (शंकराचार्य)

यह मन्त्र जब के लिये है, क्योंकि यह कर्म के प्रसङ्ग
 में आया है । मुमुक्षु को चाहिये कि शुद्ध पवित्र और एकत्र
 हो कर इस को जप करे, इस से उस का अन्तःकरण शुद्ध हो
 कर उसे ब्रह्म का ज्ञान होगा । किञ्च पूर्व जो श्रुति और स्मार्त

आचार्याय प्रियं धनमाहित्यं प्रजातन्तुं मां व्य-
 वच्छेत्सीः । सत्यान्नं प्रमदितव्यम् । धर्मान्नं
 प्रमदितव्यम् । कुशलान्नं प्रमदितव्यम् । भृत्यं
 न प्रमदितव्यम् । स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रम-
 दितव्यम् (१) । देवपितृकायाभ्यां न प्रमदि-
 तव्यम् । मातृदेवो भव । पितृदेवो भव । आचा-
 र्यदेवो भव । अतिथिदेवो भव । यान्यनवद्यानि
 कर्माणि । तानि सेवितव्यानि । नो इतराणि ।
 यान्यस्माकं सुचरितानि । तानि त्वयोपा-
 स्यानि (२) । नो इतराणि । ये के चास्म-
 च्छ्रेयाः सो ब्राह्मणाः । तेषां त्वयाऽऽसनेन प्रश्व-
 सितव्यम् । श्रद्धया देयम् । अश्रद्धयाऽदेयम् ।
 श्रिया देयम् । हिया देयम् । भिया देयम् ।

कर्म कहें हैं उनको ईश्वरार्पण बुद्धि से करने वाले को बुद्धि
 रुद्ध होकर बिना उपदेश के ही इस प्रकार आपत्तान उत्पन्न
 होता है, इसलिये मुमुक्षु को ईश्वरार्पण बुद्धि से इन कर्मों में
 सत्परा होना चाहिये (सुरेश्वराचार्य) ।

संविदा देयम् । अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा
वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात् (३) । ये तत्र
ब्राह्मणाः संमर्शिनः । युक्ता आयुक्ता । आलक्ष्णा
धर्मकामाः स्युः । यथा ते तत्र वर्तेरन् । तथा
तत्र वर्तेथाः । अथाभ्याख्यातेषु । ये तत्र ब्राह्म-
णाः संमर्शिनः । युक्ता आयुक्ताः । आलक्ष्णा
धर्मकामाः स्युः । यथा ते तेषु वर्तेरन् । तथा
तेषु वर्तेथाः । एष आदेशः । एष उपदेशः ।
एषा वेदोपनिषत् । एतदनुशासनम् । एव
मुपासितव्यम् । एवमु चैतद्रुपास्यम् (४)

स्वाध्याय प्रवचनाभ्यां न प्रमदिनव्यम्, तानि स्वर्थोपा-
स्यानि, स्यात्, तेषु वर्तेरन्, संम च । अनु० ॥ ११

१) वेद पढ़ा कर आचार्य शिष्य को अनुशासन करता है ।
सत्य श्रुति । धर्म का आचरण करो । स्वाध्याय से प्रमाद न
करो (नित्य के स्वाध्याय को कभी मत भूलो) । आज्ञाओं के
लिखे प्यारा धन ला कर (विद्यादान के योग्य देखिना देकर)
सन्तान के सागे में सिलसिले को मत काटो (गृहस्थ में प्रवेश
करके सन्तान के उस सिलसिले को जो पूर्वजों से चला आ

रहा है प्रवृत्त (मखा) । सचाई से कभी प्रमाद न करना । धर्म से कभी प्रमाद न करना । कुशल (जो कुछ उपयोगी है उस) से कभी प्रमाद न करना । ऐश्वर्य के (बढ़ाने के) लिये कभी प्रमाद न करना । स्वाध्याय अतिथि प्रवचन से कभी प्रमाद न करना । देवकार्य और पितृकार्य (तुम्हारा जो कर्तव्य देवताओं की ओर है, और जो पितरों की ओर है, उस) से प्रमाद न करना । माता को देवता की नाई । मानो । पिता को

११४२ मूल कर भी कभी तनिक भी छूट न बोलना इत्यादि बल देने के लिये फिर दुबारा सत्य आदि का प्रहण किया है ॥
तथापि स्वाध्यायान्माप्रमदः इसी से स्वाध्याय में प्रमाद रहित होने के लिये बल दिया है, तथापि सब कर्तव्यों से स्वाध्यायमें बढ़ कर प्रयत्न करना चाहिये, इस प्रयोजन के लिये फिर स्वाध्याय कहा है ।

अक्षरार्थ यह है—माता । [रूपी] देवता बालि प्रना । अर्थात् माता, पिता, आचार्य और अतिथि तुम्हारे लिये देवता के तुल्य हों, तुम प्रातःकाल उठ कर जब अपने माता पिता का दर्शन करते हो, तो जानो कि अपने देवता का दर्शन किया है, तुम्हारे माता पिता चिरस्थायी हों इस के लिये कृतज्ञ होकर सदा प्रार्थी रहो । मानो विधी पितरं मोत मातरंम् । (अग्नेर्द) । क्योंकि जब तक वे जीते हैं, तुम्हारे घर में तुम्हारे पूज्य देवता हैं । इसी प्रकार आचार्य और अतिथि जब तुम्हारे घर आते हैं, तो तुम्हारे घर देवता पधारते हैं । मन बाणी और कर्म से उन की सेवा करो, कभी किसी प्रमाद से भी उन का अनिष्ट न करो ।

देवता की भाँति मानो । आचार्य की देवता की भाँति जानो । अतिथि की देवता की भाँति जानो । जो कर्म निर्दोष हैं, उन का सदा अनुष्ठान करो । दूसरे नहीं । (अपने स्थान पर आये) जो कोई हम से उत्तम ब्राह्मण है, उन को आसन देने से आराम दो ! (जो कुछ दो) श्रद्धा से दो ! मश्रुदा से मत दो ! खुशी से दो ! विनीतभाव से दो ! भय से दो । प्रेमभाव से दो ! और यदि तुम्हें किसी धर्मकार्य में संदेह हो, या किसी वृत्त (आचार व्यवहार) में संदेह हो, तो जो ब्राह्मण वहाँ यथार्थ निर्णय करने वाले हैं, चाहे वे (राजा आदि) की ओर से उस काम पर) नियुक्त हों, और चाहे अनियुक्त (स्वतन्त्र) हों, रुखे न हों (प्रेम से बर्तने वाले हों) और धर्म से प्यार करने वाले हों (अर्थ और काम में आसक्त न हों) जैसे वे (ब्राह्मण) उस (विषय) में बर्ते, वैसे तू उनमें बर्त । और जो अभिशस्त (जिन पर संदिग्ध दोष लगाया गया है) हैं, उनके विषय में भी जो वहाँ ब्राह्मण यथार्थ निर्णय करने वाले नियुक्त या अनियुक्त हों, रुखे न हों और धर्म से प्यार करने वाले हों, जैसे वे उनके विषय में बर्ते, वैसे तू उनमें बर्त । यह आदेश (तुम्हारे लिये विधि) है । यह (हमारा) उपदेश है । यह वेद की उपनिषद् (रहस्य, गुह्यतात्पर्य, परमतात्पर्य) है । यह अनुशासन (शिक्षा) है । इस प्रकार तुम्हें सदा अनुष्ठान करना चाहिये । ठीक इसी प्रकार यह सदा अनुष्ठान के योग्य है ॥ ११ ॥

बारहवाँ अनुवाक (समाप्ति का शान्तिपाठ)

* श्रद्धा से दो, मश्रुदा से दो (विचारण्य और राघवेन्द्रयति)

शं नो मित्रः । शं वरुणः । शं नो भवेत्वर्यः ।
 मा । शं न इन्द्रो बृहस्पतिः । शनो विष्णुरु-
 क्रमः । नमो ब्रह्मणे । नमस्ते वायो । त्वमेव
 प्रत्यक्ष ब्रह्मासि । त्वामेव प्रत्यक्ष ब्रह्मावादिषम् ।
 ऋतमेवादिषम् । सत्यमेवादिषम् । तन्मामा-
 वात । तद्वक्तारमावीति । आवीन्माम् । आवी-
 द्वक्तारम् । ओ शान्तिः । शान्तिः । शान्तिः ॥ (१)

सत्यमेवादिष पञ्च च ॥ १२ ॥

शान्तिः शान्तिः शान्तिः । सहनी न्यश्छन्दसाम् भूः सत्यः पुषिबी-
 कीमिति, ऋतं च, अहम् वेदमनूज्य, शनः ५ (द्वादश*) ॥

शान्तिः मह इत्यादित्यः, नो इतराणि, त्रयोविंशतिः ।

* शिक्षावल्ली में अनुवाक बारह है । यह उन बारह अनुवाकों की आदि की बारह प्रतीक है । और उनकी संख्या बतलाने के लिये अन्त में द्वादश कहा है । इस वल्ली में जो आदि और अन्त में शान्तिपाठ पढ़ा है, उनको भी एक स्वतन्त्र अनुवाक के तौर पर गिना गया है । तैत्तिरीयारण्यक में यहाँ ही शान्तिमन्त्रों को अनुवाकों में गिना है, और कहाँ नहीं ।

१ ये दहाका के दहाके दिये गए हैं । 'शन्नो मित्रः' से पहला दहाका और अम होता है । 'मह इत्यादित्यः' (अनुवाक ५ दहाका २) से दूसरा । और 'नो इतराणि' (११११११) से

ब्रह्मवल्ली (आनन्दवल्ली)

❀ सहनाववतु । सहनौभुनक्तु । सहवीर्य

तीसरा दहाका आरम्भ होता है, ' नो इतराणि ' से लेकर पूरे दस दहाके नहीं हुए, किन्तु तीन ही हैं । इस लिये तीस पहले और तीन ये मिल कर २३ (त्रयोविंशति) दहाके इस प्रपाठक (शिक्षावल्ली) में हैं ।

ये प्रतीक जो अनुवाकों की समाप्ति में ग्रन्थ की रक्षा के लिये कई प्रकार से दी गई हैं । पुराने आचार्यों ने इनके विषय में कुछ लिखा नहीं । पर नए आचार्य जो स्वयं न समझ कर भी दूसरों की समझाने के लिये तय्यार रहते हैं । उन्होंने जो इनके अर्थ किये हैं । वस सारी विद्या यहां समाप्त करदी है । वे इनको भी उपनिषद् का हिस्सा समझ कर इनका अर्थ ढूँढते हैं । जब अर्थ में कोई संगति नहीं लगती । तो कुछ अपने पास से डालते हैं, कुछ उसको खींचते हैं । किसी की जगह बदलते हैं, किसी को छोड़ देते हैं, यह संव करके कुछ बेतरहसा अर्थ निकाल लेते हैं । यही चाल उनकी बाकी उपनिषद् के अर्थ में भी है । हम सविनय कहते हैं, कि हमने अपने पाठकों को ऐसी भ्रान्तियों से सर्वथा बचाया है । यथार्थ बात ढूँढने में हम पूरा परिश्रम उठाते हैं, तिस पर जो हमारी समझ से ऊपर रहे, उसके विषय में अपना अज्ञान मानना ही हम उचित समझते हैं ॥

* स्वामि शंकराचार्य ने यहाँ उस शान्तिपाठ को भी इससे पहले पढ़ना लिखा है, जो शिक्षावल्ली के आरम्भ में है ।

करवावहै । तेजस्विनावधीतमस्तु । माविद्विषाव
है । ओ शान्तिः ! शान्तिः ॥ शान्तिः ॥

(ब्रह्म हम दोनों (शिष्य और आचार्य) की रक्षा
करें । वह हम दोनों को पाले (सुगाए) हम मिल कर बल
बिनाए; हमारा पढ़ा हुआ चमकने वाला हो । हम कभी द्वेष न करें ।
ओ ईश्वर शान्तिः ! शान्तिः ॥ शान्तिः ॥)

ओं ब्रह्मविदाप्नोति परम् । तदेषाम्युक्ता ।
सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायां
परमे व्योमन् । सोऽश्नुते सर्वान् कामान् । सह
ब्रह्मणा विपश्चितोति ।

तस्माद्वा एतस्मादात्मनः आकाशः । स-
म्भूतः । आकाशाद्वायुः । वायोरग्निः । अग्ने-
रापः । अद्भ्यः पृथिवी, पृथिव्या ओषधयः ।
ओषधीभ्योऽन्नम् । अन्नात्पुरुषः । स वा एष
पुरुषोऽन्नरसमयः । तस्येदमेव शिरः । अयं

पर दूसरे व्याख्या कारों ने यहां 'सहानावचतु, फोही शान्ति-
पाठ में पढ़ा है, और तैत्तिरीय आरण्यक में भी इतना ही
शान्तिपाठ है ।

दक्षिणः पक्षः । अयमुत्तरः पक्षः । अयमात्मा ।
इदं पुच्छं प्रतिष्ठा । तदप्येष श्लोको भवति ॥

ब्रह्मवेत्ता परब्रह्म को पालेता है * । इस पर यह श्रुति
कही गई है—

‘वह जो उस ब्रह्म को जानता है, जो सत्य (सदा एक
एक वर्तमान) ज्ञान (चेतन) और अनन्त है, और (हृदय की)
गुफा के अन्दर परम आकाश (हृदयाकाश) में छिपा हुआ है,
वह उस सर्वज्ञ ब्रह्म के साथ मिल कर सारी कामनाओं को
आगता है ।

उस आत्मा (सर्वान्तरात्मा ब्रह्म) से आकाश उत्पन्न
हुआ, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से
पृथिवी ।

पृथिवी से ओषधियों ओषधियों से अन्न । अन्न से वीर्य । वीर्य
से पुरुष । इस प्रकार यह पुरुष (स्थूल शरीर) अजरसमय है,

* आगे जो ब्रह्मविद्या विस्तार से कहना है, उस सारी
का यह वाक्य मूल सूत्र है, अगले मन्त्र में इसका संक्षिप्त आशय
कहा है, और फिर आगे सारी उपनिषद् इसका विस्तार है ।

† यद्यपि पुरुष की नाई अन्य प्राणधारी भी इसी क्रम
से उत्पन्न होते हैं, तथापि यहां यतः ब्रह्म विद्या का वर्णन है,
जिसका अधिकारी पुरुष ही है, इसी लिये पुरुष के अन्दर आगे
पांचों कोशों का निरूपण करना है; इस लिये यहां केवल पुरुष
की उत्पत्ति दिखलाई है । पुरुष की उत्पत्ति दिखला कर सवा
एक पुरुषोऽजरसमयः इत्यादि से उसके शरीर में पांचों कोश

(अन्न के सार का बना हुआ है) । उस (अन्नरसमय) का यही सिर है (यह (दाईं भुजा) दायां पक्ष है। यह (बाईं भुजा) बायां पक्ष है। यह (देह का मध्य भाग) आत्मा (धड़) है ।

दिखलाए हैं, जिनमें से पहला अन्नमय कोश है, जो स्थूल देह रूप है। हर एक कोश को पक्षी रूप में वर्णन करने के लिये (उसके पांच २ अंग बतलाए हैं)। सिर, दायां पक्ष, बायां पक्ष, धड़ और पुच्छ। पक्षां से अभिप्राय पक्ष और पुच्छ से अभिप्राय टांगों से है, इसी लिये पुच्छ के साथ प्रतिष्ठा शब्द कहा है। प्रतिष्ठा, सहारा। बैठने उड़ने में टांगें पंखों का आधार होती हैं। पंखों की पुच्छ से पशुओं की नाई नीचे लटकती हुई टांगों से अभिप्राय है। यहां पहले अन्नमय कोश में यह अंग इस तरह दिखलाए हैं। यह सारा शरीर एक पक्षी है, इस पक्षी का सिर यही है, जो सिर है, दाईं भुजा दायां पक्ष है, बाईं भुजा बायां पक्ष है। यह धड़ ही पक्षी का धड़ है, और टांगें पुच्छ हैं, जो इस पंखों के देह का आधार हैं, जिन पर यह खड़ा है। अगले चारों कोशों में जो अंग दिखलाए हैं, वह कल्पना किये गए हैं, प्राणमय कोश में प्राण को सिर कहा है। प्राण कोई सिर नहीं, उसको सिर की जगह कल्पना कर लिया है। पर यहां अन्नमय कोश में ये अंग सारे असली पाए जाते हैं, इस लिये यहां उस अंग का नाम न लेकर यह २ शब्द कहते गए हैं, यही सिर है, यह दायां पक्ष है, इत्यादि। यह अर्थात् प्रसिद्ध। यह जो प्रसिद्ध सिर है, यही सिर है, अर्थात् यही प्राणमयादि की नाई कल्पित सिर नहीं।

यह (नाभि से नीचे का अंग) पच्छ है जो सहारा है । इस पर यह श्लोक है ॥ १ ॥

व्याख्या—वेदका पढ़ना पढ़ाना, नैक, चाल चलन और वेदिक कर्मों का अनुष्ठान, ये हृदय को शुद्ध बनाते हैं, इस लिये इनको पहले वर्णन किया है । क्योंकि शुद्ध हृदय में ही शुभ्र-ज्योति परब्रह्म के दर्शन हो सकते हैं, इसलिये इन को कह कर अब ब्रह्मविद्या का आरम्भ करने हैं ' ब्रह्मवेत्ता पर ब्रह्म को पालेता है, यह यचन ब्रह्मविद्या का मूलसूत्र है । ब्रह्म का पालेना ही मोक्ष है । ब्रह्म को पाने के लिये कहीं चलकर जाना नहीं है । अनन्त (= व्यापक) ब्रह्म तुम्हें सदा प्राप्त है, वह तुम्हारे हृदय में रहते हैं, उन के दर्शन ही उन की प्राप्ति है । तुम उनको भूले हुए हो, यही उन से जुदाई है, इसा भूल को दूर करना उन को पाना है । उनके दर्शन पाने के लिए अपने ज्ञान की ज्योति को बाहर से समेट कर अन्दर वापिस करो । और इस ज्ञान के दीपक को हृदय की गुफा (अपने रहने के मन्दिर) में जलाओ । वह इस गुफा के अन्धेरे में छिपे हुए हैं, यहाँ ही दीपक जलाओ । जहाँ तुम स्वयं रहते हो । उस मन्दिर को तो घुप अन्धेरे में रख कर सारा प्रकाश तुम बाहर भेज रहे हो, इस लिए वह तुम्हें दीखते नहीं । अब उस प्रकाश की यहाँ फैलने दो, देखो अन्धेरा दूर होते ही इसी गुफा के अन्दर जो निर्मल आकाश है, उस आकाश में परिपूर्ण वह ' सत्यं ज्ञान मनन्तं ब्रह्म ' तुम्हारे सम्मुख प्रकट हो जाएंगे । तब तुम्हारे घर मांगने का बेला आएगा क्योंकि तुमने अपने अधिपति के दर्शन किये हैं, जो कुछ चाही मांग सकते हो, पर क्या अब

मांगने की कोई आवश्यकता रह गई है नहीं ! नहीं !! कुछ नहीं !!! यहां तो पहुंचने की ही देरी थी, कि सारी की सारी कामनाएँ एक दम पूर्ण हो गईं 'सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता' (प्रश्न) ब्रह्म जब सारे परिपूर्ण हैं तो फिर उन की उपलब्धि हृदयाकाश में ही क्यों होती है ? इस का उत्तर यह है, निःसन्देह ! वह सर्वत्र परिपूर्ण है, और सर्वत्र ही उन की उपलब्धि होती है । सारा विश्व उन्हीं की महिमा गा रहा है, और उन्हीं के दर्शन करा रहा है, वह इस सारे विश्व में आनन्द और अमृत स्वरूप से चमक रहे हैं । तथापि बाह्य जगत् उन के जिस रूप को हमारे सामने रखता है, वह उन का निखरा हुआ स्वरूप नहीं । वह दर्शन उनके इस भान्ति के है, जैसे एक तेजस्वी ब्रह्मवर्चसी ऋषि को देख कर उस के अन्दर वास करते हुए एक जाड्वल्यमान आत्मा का ध्यान होता है, जिस की महिमा उस के चेहरे से प्रकाशित हो रही है । ब्रह्म के दर्शन भी बाह्य जगत् में इसी प्रकार होते हैं । पर जब हम उन के स्वरूप के दर्शन चाहते हैं तो हमें वहां प्रवेश करना होगा, जहां वह सारे तन्त्रों से निखरे हुए हो कर विराजते हैं, वह स्थान हृदय है । हृदय के परम आकाश में उन का शुद्ध स्वरूप है । बाह्य जगत् में इन्द्रियों से उनकी महिमा देखी जाती थी, पर यहां इन्द्रियों की पहुंच नहीं है । यहां उन का दिखलाने वाला भी आत्मा है, और देखने वाला भी आत्मा है, 'यदात्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वदीपीपमेनेह युक्तः प्रपश्येत । अजं ध्रुवं सवत्तत्त्वैर्विशुद्धं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपापीः' (श्वेता० उप० २ । १५) = जब योगयुक्त हो कर आत्मतत्त्व से ब्रह्मतत्त्व

को देखे, जो अज भूष (कूटस्थ) और सारे तरंगों से विशुद्ध (निखरा हुआ) है, तब उस देव को जानते ही सारी फाँसों से छूट जाता है । ऐसी उपलब्धि केवल हृदयाकाश में ही होती है; इस लिये कहा है—' यो वेद निहितः गुहायां परमे व्योमन् '

संगति—अब, वही सारी सृष्टि को रच कर उस में अन्तरात्मा होकर प्रविष्ट है, उसके शुद्ध स्वरूप के दर्शन करने के लिये जिन २ परदों को उठा २ कर उस २ के अन्दर घुसते हुए जहाँ पहुँच कर उनके साक्षात् दर्शन होते हैं; उस क्रम को वर्णन करने के लिये पहले सृष्टिक्रम का और फिर पाँच कोशों का वर्णन करते हैं * ।

दूसरा अनुवाक ॥ २ ॥

अन्नाद्वे प्रजाः प्रजायन्ते । याः काश्च पृथिवी ५ श्रिताः । अथो अन्नेनैव जीवन्ति । अथैनदपियन्त्यन्ततः । अन्न ५ हि भूतानां ज्येष्ठम् । तस्मात् सर्वोषध मुच्यते ।

सर्वं वै तेऽन्नमाप्नुवन्ति । येऽन्नं ब्रह्मोपासते । अन्न ५ हि भूतानां ज्येष्ठम् । तस्मात् सर्वोष-

* ' तस्माद्वा ' से लेकर ' अन्नात् पुरुषः ' तक सृष्टिक्रम का वर्णन है और ' स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः ' से लेकर कोशों का वर्णन है ।

धमुच्यते । अन्नाद् भूतानि जायन्ते । जाता-
न्यन्नेन वर्धन्ते । अद्यतेऽस्ति च भूतानि ।
तस्मादन्नं तदुच्यत इति ।

तस्माद्वा एतस्मादन्नरसमयात् । अन्योऽन्तर
आत्मा प्राणमयः । तेनैष पूर्णः । स वा एष
पुरुषविध एव । तस्य पुरुषविधताम् । अन्वयं
पुरुषविधः । तस्य प्राण एव शिरः । व्यानो
दक्षिणः पक्षः । अपान उत्तरः पक्षः । आकाश
आत्मा । पृथिवी पुच्छं प्रतिष्ठा । तदप्येष
श्लोका भवति । २ ।

* अन्न से वह सारी प्रजाएँ उत्पन्न होती हैं, जो पृथिवी
पर रहती हैं । तब वह अन्न से ही जीती है, और फिर अन्त में
अन्न में ही लीन होती है । क्योंकि अन्न सब भूतों (जन्तुओं)

* अन्न कई जगह पर असंकुचित अर्थ अर्थात् विराट्
(मैटर्) के अभिप्राय में प्रयुक्त हुआ है, ऐसा ही यहां भी है ।
विराट् से सारी प्रजाएँ उत्पन्न होती हैं, उसी से बढ़ती और
उसी में लीन होती हैं ।

का बड़ा है, इस लिये वह सर्वोपध कहलाता है ।*

वे जो अन्न को ब्रह्म (के तौर पर) उपासते हैं †, वे समस्त (हर एक) अन्न को प्राप्त होते हैं । क्योंकि अन्न सब भूतों का बड़ा है, इस लिये सर्वोपध कहलाता है । अन्न से सारे जन्तु उत्पन्न होते हैं, जब उत्पन्न होजाते हैं, तो अन्न से बढ़ते हैं, क्योंकि यह खाया जाता है (भूतों से) और कि सारे भूतों को खाजाता है, इस लिये वह अन्न कहलाता है ‡ ।

§ यह जो अन्नरस का बना (शरीर) है, इससे भिन्न एक और अन्तर आत्मा है, जो प्राणमय (प्राण रूप) है ।

*अन्न न मिले तो जाठराग्नि धातुओं को जलाने लगता है । अन्न उस दाह का शान्त करने वाला है, इस लिए औपध है । और सबके लिये औपध है, इस लिये सर्वोपध है । अन्न से अभिप्राय अनाज नहीं, किन्तु खुराक है, जिसके लिये जो खुराक है, वही उसका अन्न है ।

†उपासना से अभिप्राय यह ज्ञान है, कि सारे जन्तु अन्न से उत्पन्न होते, अन्न से जीते, और अन्न में लीन होते हैं, इस लिये (उत्पत्ति, वृद्धि और लय का हेतु होने से) अन्न ब्रह्म है ।

‡ यहाँ तक अन्नमय कोश समाप्त हुआ ।

§ अन्नमय कोश के अन्दर प्रवेश कराने के लिये उससे विलक्षण उसके अन्दर एक और कोश बतलाते हैं । जिस तरह छिलके हटाकर उसके अन्दर से चावल अलग किया जाता है, इस तरह सारे परदे हटाकर अन्दर ब्रह्म के दर्शन मिलते हैं । इस लिये क्रमशः सूक्ष्म से सूक्ष्म कोशों में प्रवेश कराते हैं ।

उस (प्राणमय) से यह (अन्नरसमय) पूर्ण हो रहा है (जैसे चायुं से मशक)। सो यह (प्राणमय) भी पुरुषाकार* ही है। उस (अन्नरसमय) की पुरुषाकारता के सदृश यह पुरुषाकार है। प्राण ही उसका सिर है। व्यान दायाँ पक्ष है। अप्रान बायाँ पक्ष है। आकाश धड़ है। पृथिवी ऊँ-पुच्छ है, सहारा है। इस पर (प्राणमय के विषय में) यह श्लोक है।

तीसरा अनुवाक ॥ ३ ॥

प्राणं देवा अनुप्राणन्ति । मनुष्याः पश-
वश्च ये । प्राणो हि भूतानामायुः । तस्मात्स-
र्वायुषमुच्यते ॥

सर्वमेव त आयुर्यन्ति । ये प्राणं ब्रह्मोपासते ।
प्राणो हि भूतानामायुः । तस्मात् सर्वायुष-
मुच्यत इति । तस्यैष एव शरीर आत्मा । यः
पूर्वस्य । तस्माद्वा एतस्मात् प्राणमयात् ।

* यहाँ पुरुषाकार कहने से यह संभावित है कि कोश पुरुषविध ही वर्णन किये हैं। सिर, दाईं, बाईं भुजा, धड़ और टांगे यह पाँच अंग हैं।

प्राणों के विषय में आकाश और पृथिवी यथाकथं चित् समान और उद्भवा के अग्निप्राय से लेने चाहिये। अथवा जो मुख्य अर्थ है वही ठीक है (शंकरानन्द)।

अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः । तेनैष पूर्णः ।
स वा एष पुरुषविध एव । तस्य पुरुषविधता-
म् । अन्वयं पुरुष विधः । तस्य यजुरेव शिरः ।
ऋग्दक्षिणः पक्षः । सामोत्तरः पक्षः । आदेश
आत्मा । अथर्वाङ्गिरसः पुच्छं प्रतिष्ठा । तदप्येष
श्लोको भवति

देवता प्राण के सहारे सांस लेते हैं, और जो मनुष्य
और पशु हैं वे भी (प्राण के सहारे सांस लेते हैं,) प्राण सारे
जन्तुओं का आयु है, इस लिये सर्वायुष (सबका आयु)
कहलाता है ।

वे जो प्राण ग्रह को उपासते हैं, पूरी आयु को प्राप्त
होते हैं । क्योंकि प्राण सब जन्तुओं का आयु है, इस लिये
सर्वायुष कहलाता है । उसका यही शरीर आत्मा है, जो पहिले
(अन्नमय) का है ।

* हम नहीं जानते, हमारे शरीर में क्या प्रयत्न हो रहा
है । भूख लगती है, खा लेते हैं । अब अन्दर जाकर क्या कुछ
चल रहा है, हमें कुछ पता नहीं । चल रहा है, सब कुछ हमारे
लिये, हमारे जीवन की रक्षा और वृद्धि के लिये, पर हम कुछ
नहीं जानते । अन्दर जो कारखाना है, जिसकी हर एक कला
अपना ५ काम किये जा रही है । उस कारखाने का प्रयत्न
हमारे हाथ नहीं, हम तो उसके विषय में कुछ जानते ही नहीं ।

यह जो प्राणमय है, इस से भिन्न, एक और, अन्तर आत्मा मनोमय है। उस (मनोमय) से यह (प्राणमय) पूर्ण हो रहा है। यह भी पुरुषाकार है। उस (प्राणमय) की पुरुषाकारता के सदृश यह पुरुषाकार है। यन्तु ही उसका शिर है। ऋचा उसकी दायाँ पक्ष है। साम बायाँ पक्ष है। वादेश (विधि) घड़ है। अथर्वाङ्गिरस पुच्छ है, सहारा है। इस पर

यह प्रबन्ध उसी के हाथ में है, जिसके हाथ में इस सारे विश्व का प्रबन्ध है। जो उस सूर्य का अन्तरात्मा होकर उस को नियम में चला रहा है, वही हमारे इस देह का अन्तरात्मा होकर इस को अपने नियमों में स्थिर किये हुए है। वह ब्रह्म जो उस सूर्य का अन्तरात्मा है, वही इस अन्नमय कोश का अन्तरात्मा है, और इस अन्नमय कोश के अन्दर जो प्राणमय कोश है, उसका भी वही आत्मा है। जैसा अन्नमय उसका शरीर है और वह इसका आत्मा है, इसी प्रकार प्राणमय कोश भी उस का शरीर है, और वह इसका शरीर आत्मा है। इस आंशव से कहा है, इसका, यही शरीर आत्मा है, जो पहले का है। और इसी शबल रूप को लेकर 'ये अन्नं ब्रह्मोपासते', 'ये प्राणं ब्रह्मोपासते' इत्यादि कहा है। स्वामिशंकराचार्य जो इस का यह अर्थ करते हैं, कि उस पहले का यह शरीर आत्मा है, जो यह प्राणमय है। और इसी प्रकार आगे भी अर्थ किया है। इस अर्थ में अक्षरों का स्वारस्य नहीं है। और सुरेश्वराचार्य ने इसी अस्वारस्य को देख कर उस अर्थ में अरुचि प्रकट की है और यह अर्थ ठीक माना है।

* अथर्वाङ्गिरस, वे मन्त्र जिन के द्रष्टा अथर्वाङ्गिरस हैं।

(मनोमय के विषय में) भी यह श्लोक है ॥ ३ ॥

ध्याख्या—यह नहीं जानना चाहिये, कि अन्न-मय कोश ही सद्य का जीवन है, किन्तु इसके अन्दर एक और प्राणमय कोश है, जिससे सारे प्राणधारी जीवन लाभ करते हैं। जय, तक शरीर में प्राण वास करता है; तब तक जीवन है ॥

चौथा अनुवाक ॥ ४ ॥

यतो वाचो निवर्तन्ते । अप्राप्य मनसा सह ।
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् । न विभेति कदाचने-
ति । तस्यैव एव शारीर आत्मा । यः पूर्वस्य ।
तस्माद्वा एतस्मान्मनोमयात् । अन्योऽन्तर-
आत्मा विज्ञानमयः । तेनैव पूर्णः । स वा एव
पुरुषविध एव । तस्य पुरुषविधताम् । अन्वयं
पुरुषविधः । तस्य श्रद्धैव शिरः । ऋतं दक्षिणः
पक्षः । सत्यमुत्तरः पक्षः । योग आत्मा । महः
पुच्छं प्रतिष्ठा । तदप्येव श्लोको भवति ॥ ४ ॥

अर्थान् अथर्ववेद के मन्त्र । यजु ३६ । ५ में और छान्दोग्य ५ । ३६ में वेदों की स्थिति मनमें बतलाई है, और यहां भी मनो-मय कोश के साथ वेदों का सम्बन्ध दिया है । इस से स्वामि-शंकराचार्य यह आशय लेते हैं, कि वेद ज्ञानमय हैं, न कि शब्दमय ।

‘यह जो ब्रह्म के उस आनन्द को जानता है, जहाँ से समस्त बाणियों मन समेत चित पहुँचे लौटती हैं, * ब्रह्म के उस आनन्द को जानता हुआ वह सर्वथा अमय हो जाता है’। उसका (मनोमय का) शरीर आत्मा वही है, जो पहले का है। इस मनोमय से भिन्न और अन्तर आत्मा है विज्ञानमय। उस (विज्ञानमय) से यह (मनोमय) पूर्ण हो रहा है। यह भी पुरुषाकार है, उसकी पुरुषाकारता के सदृश यह पुरुषाकार है। श्रद्धा ही उस का सिर है। अमृत दायीं पक्ष है। सत्य दायीं पक्ष है। योग (चित्त का एकाग्र होना) धड़ है। महः (महत्तत्त्व=समष्टिबुद्धित्व) पुच्छ है, सहारा है। इस पर (विज्ञानमय के विषय में) भी यह श्लोक है ॥ ४ ॥

यह श्लोक ब्रह्मानन्द की महिमा को बोधन करता है, जैसा कि आगे यह २। ९ में स्पष्ट ब्रह्म के विषय में है। यहाँ मनोमय के विषय में यह इस अभिप्राय से दिया है, कि मनोमय कोश मन और बाणी (यज्ञ, अग्नि, साम, आदेश, और अथर्व) रूप है। इस मन और बाणी की इतनी महिमा है, कि केवल एक निरञ्जन ब्रह्म को छोड़ कर और कुछ भी सारे विश्व में मन बाणी का अगोचर (अविषय) नहीं है। मन और बाणी सब जगह साथी बने रहते हैं, और वह बहुत कुछ भय से वंचाति हुए

* मन और बाणी का विषय मन और बाणी नहीं होसकते, क्योंकि अपने आप में अपना व्यापार [काम] नहीं होसकता, इस लिये मन बाणी विशिष्ट मनोमय कोश से बाणियों मन के साथ लौट आती हैं, यह अभिप्राय है [आनन्दगिरि]

मनुष्य का हाथ पकड़ कर आगे लिये चले जाते हैं, जब तक कि वह पूर्ण अमय स्थान के द्वार पर नहीं पहुँच लेता । इस के आगे केवल ब्रह्मानन्द है । वहाँ केवल आत्मा पहुँचता है । ये बिना पहुँचे द्वार पर से लीटते हैं । हाँ द्वार पर पहुँचा कर लीटते हैं ॥

पाँचवां अनुवाक ॥ ५ ॥

विज्ञानं यज्ञं तनुते । कर्माणि तनुतेऽपि च ।
विज्ञानं देवाः सर्वे । ब्रह्म ज्येष्ठमुपासते । विज्ञानं
ब्रह्म चेद्वेद । तस्माच्चेन्न प्रमाद्यति । शरीरे पाप्मनो
हित्वा । सर्वान् कामान्तसमश्नुत इति । तस्यैष
एव शारीर आत्मा । यः पूर्वस्य ।

तस्माद्वा एतास्माद्विज्ञानमयात् । अन्योऽ-
न्तरात्मा ऽऽनन्दमयः तेनैष पूर्णः । स वा
एष पुरुषविधेः । तस्य पुरुषविधताम् ॥
अन्वयं पुरुषविधः । तस्य प्रियमेव शिरः ।
मोदो दक्षिणः पक्षः । प्रमोद उत्तरः पक्षः ।
आनन्द आत्मा । ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा ॥ तदप्येष
श्लोको भवति ॥ ५ ॥

विज्ञान (संभ्रम, बुद्धि) यद्य को फैलाता है (पूरा करता है) और सारे दूसरे कर्मों को फैलाता है। सारे देव विज्ञान को ब्रह्म ज्येष्ठ * (सब से बड़ा) उपासते हैं। यदि कोई पुरुष विज्ञान को ब्रह्म जान लेता है, और उस से यदि प्रमाद नहीं करता, तो वह सारे पापों को शरीर में छोड़ करके सारी कामनाओं को भोगता है। इस का यही शरीर आत्मा है, जो पहले का है।

उस विज्ञानमय से और एक अन्तर आत्मा है—आनन्दमय। उस से यह पूर्ण हो रहा है। यह भी पुरुषाकार है। उस (विज्ञानमय) की पुरुषाकारता के संदृश यह पुरुषाकार है। उस का प्रिय ही स्वर है। मोद वायां पक्ष है। प्रमोद वायां पक्ष है। आनन्द आत्मा है। ब्रह्म पुच्छ है सहारा है। इस पर भी यह श्लोक है ॥ ६ ॥

छटा अनुवाक ॥ ६ ॥

असन्नेव स भवति । असद् ब्रह्मेति वेद चेत् ॥
अग्निं ब्रह्मेति चेद्वेद । सन्तमेनं ततो विदुरिति ।
तस्यैष एव शरीर आत्मा ॥ यः पूर्वस्य । अथा-
तोऽनुप्रश्नाः—उता विद्वानमुं लोकं प्रेत्य । कश्चन

* देव इन्द्रिय है और विज्ञान बुद्धि है, बुद्धि इन्द्रियों से पहले उत्पन्न हुई है, इस लिये वह इन सब से बड़ी है ॥

गच्छती ३ आहो विद्वानमुं लोकं प्रेत्य । कश्चित्
समश्नुता ३ उ ।

सोऽकामयत् । बहु स्यां प्रजायेयेति । स
तपोऽतप्यत् । स तपस्तप्त्वा । इदं सर्वमसृजत् ।
यदिदं किञ्च । तत्सृष्ट्वा । तदेवानुप्राविशत् ।
तदनुप्रविश्य । सच्चित्यच्चाभवत् । निरुक्तं चानि-
रुक्तं च । निलयनं चानिलयनं च । विज्ञानं
चाविज्ञानं च । सत्यं चानृतं च । सत्यमभवत् ।
यदिदं किञ्च । तत्सत्यमित्याचक्षते । तदप्येष
श्लोको भवति ॥ ६ ॥

। वह जो ब्रह्म को असत् (नहीं है) करके जानता है,
वह स्वयं असत् होता है । ' है ब्रह्म ' यदि वह ऐसा जानता है,
तब लोग उसे सन्त (है) जानते हैं * । उस का यही शरीर
आत्मा है, जो पहले का है । अब इससे आगे (इस पर) प्रश्न है—

* जो ब्रह्म को असत् जानता है, वह असत् के सम
होता है जैसे असत् से पुरुष का अर्थ सिद्ध नहीं होता, ऐसे
ही वह भी अपने परम पुरुषार्थ की सिद्धि से अलग रहता है;
और जो उस को सत् जानते हैं, वही परमार्थ सत्ता वाले हैं ॥

प्रश्न—क्या कोई ऐसा पुरुष भी जो ब्रह्म को नहीं जानता, मर कर उस लोक (आनन्दमय ब्रह्म) को जानता है? या क्या मरकर वह ही उस को भोगता है जो कोई विद्वान् है?

उत्तर—उसने चाहा कि मैं बहुत हो जाऊँ, मैं प्रजा

वर्णों जो ब्रह्म को 'नहीं है' करके जानता है, वह वर्ण आश्रम आदि की व्यवस्था रूप जो सन्मार्ग है, उस में श्रद्धा नहीं रख सकता, क्योंकि यह मर्यादा ब्रह्म की प्राप्ति के लिए है। इस लिए ऐसा नास्तिक लोक में असन्त, असाधु, कहलाता है। और जो ब्रह्म को 'है' करके मानता है, वह उस की प्राप्ति के साधन वर्ण आश्रम आदि की व्यवस्था रूप सन्मार्ग में श्रद्धा रखता हुआ उस को 'यथार्थ' जानता है, इस लिए उसे सन्त (साधु, मार्ग में ठहरा हुआ) कहते हैं (शंकराचार्य)।

* ब्रह्म सब के लिये एक जैसा है, क्योंकि वह सब का ही आदि कारण है। ज्ञानी का भी कारण है, अज्ञानी का भी कारण है, तो फिर दोनों के लिये समता होनी चाहिये। यदि ज्ञानी मर उस को प्राप्त हो सकता है, अज्ञानी भी होना चाहिये, और यदि अज्ञानी हो नहीं सकता, तो ज्ञानी भी नहीं होना चाहिये, यह अभिप्राय है (शंकराचार्य, सुरेश्वराचार्य) ॥

† ब्रह्म सारे भुवन में प्रविष्ट हो कर रूप रूप के प्रतिरूप हो कर अनेक शबल (अपरः) रूप धारण किये हुए है (कठ० ६।६)। पर यह सब कुछ प्रलय में एक रूप था। जैसे पिता चाहता है, कि एक से बहुत हो जाऊँ, मेरी सन्तति बढ़े, यह श्रद्धा उस के बहुत होने का बीज है। इसी प्रकार सृष्टि से

वाला होड । उस ने तप तपा । तप तपने के पीछे उस ने इस सब की रचा, जो कुछ यह है । इस को रचकर के वह इसमें प्रविष्ट हुआ । इस में प्रवेश करके वह सत् (जो व्यक्त है) और त्यत् (जो कुछ छिपा हुआ है) हो गया, निरुक्त (जो दूसरों से अलग करके यतलाया जा सकता है) और अनिरुक्त (जो अलग नहीं किया जा सकता है) निलयन (दूसरों का आधार) और अनिलयन, (अनाधार) विद्यान (चेतन) और अविद्यान (अचेतन) सत्य और भूट * यह (सत्य) सत्य (ब्रह्म) हो गया । जो कुछ यह है । उस को सत्य कहते हैं । इस पर यह श्लोक है ॥ ६ ॥

पहले ब्रह्म में यह बीजरूप इच्छा प्रकट हुई, कि मैं बहुत हो जाऊँ । और जैसे तपश्चर्या (ब्रह्मचर्य प्रती) के पीछे पुरुष को सन्तानोत्पादन का अधिकार है । वैसे ब्रह्म ने भी पहले तप तपा, यह तप सृष्टि रचने का विचार था । फिर सृष्टि की रचा । और रच कर वह स्वयं इस में प्रविष्ट हुआ, इस प्रवेश से यह अभिप्राय है, कि उसने अलग हो कर उस को नहीं बनाया, किन्तु स्वयं अन्तरात्मा हो कर अपना शरीर जो प्रकृति है, उस को अनेक रूपों में बदला है । यह उस के सारे शबलरूप हैं, इसी लिए इस रीति पर कहा है, कि वह इस में प्रविष्ट हो कर सत् त्यत् हो गया, इत्यादि । इस को मिलाओ (छान्दो० उप० ६ । २ । १ से) ॥

* जो हमारे इन्द्रियों को सब्जा और भूँडा प्रतीत होता है ।

व्याख्या—ब्रह्मा जो इस स्थूल सूक्ष्म में अन्तरात्मा बन कर बैठा है, हमारे आत्मा में भी उस का आत्मा बन कर बैठा है, इस लिए बाह्य आभ्यन्तर सारा जगत उस की महिमा दिखला रहा है । जहां हम बाहर उस की महिमा देखते हैं, वहां हमारे अन्दर भी उस की महिमा भरी है । सो यदि कोई पुरुष ऐसे अधिपति को ' नहीं है ' करके जानता है, तो उस की अपनी हस्ती न होने के बराबर है । ब्रह्मज्ञानी पुरुष तो उसी की हस्ती को हस्ती जानते हैं, जो इस मनुष्य जन्म में आकर यूँ ही नहीं चल देता, किन्तु सारे परदे उठा कर अन्तरात्मा के दर्शन कर जाता है । यही ब्रह्म सारे कोशों के भीतर छिपा हुआ है । जब विज्ञानमय कोश के अन्दर प्रवेश करोगे, तो इस का आनन्दमय शरीर तुम्हारे सामने आएगा, तब फिर जिधर देखोगे, तुम्हारे लिये प्रिय है, मोद है, प्रमोद है, आनन्द है । यहां वह आत्मा है, जो सब का आत्मा है । यह ब्रह्म है, यह आत्मा है, जो सारी रचना के अन्दर है, जिस का जानने वाला सारी कामनाओं को भोगता है ।

यहां तक पाँचों कोशों की विवेचना की गई है । सब से पहला स्थूल देह अन्नमय कोश है । उस के अन्दर उस से सूक्ष्म २ चार कोश और हैं । इस प्रकार प्राणमय कोश के अन्दर तीन, मनोमय के अन्दर दो, और विज्ञानमय कोश के अन्दर एक और कोश है, वह सब से अन्तिम आनन्दमय कोश है । यहां उस आत्मा के साक्षात् दर्शन होते हैं, जो स्थूल सूक्ष्म सारे विश्व का अन्तरात्मा है ।

प्रश्न—यहां मनुष्यों के दो भेद किये हैं, एक ज्ञानी,

दूसरे अध्यानी । यह भेद क्या इसी जगत् में समाप्त हो जाता है वा मरने के पीछे भी रहता है ? यह इस प्रकार पूछा गया है, कि क्या जब प्राणी मरता है, तो वह जिस तरह इस अन्नमय कोश को छोड़ देता है, उसी तरह इसके भीतरी कोशों को भी छोड़ता हुआ आनन्दमय कोश तक पहुँच जाता है वा नहीं ? और यह यदि अन्नमय कोश को छोड़ कर भी दूसरे कोशों के भीतर प्रवेश नहीं करता, तो फिर क्या विद्वान् भी इस शरीर को छोड़ कर वैसे ही रहता है, वा उस लोक (आनन्दमय कोश) को भोगता है ।

इसका उत्तर आगे इस वृत्ति की समाप्ति तक है, जिस का आशय यह है, कि ब्रह्म इस सारी सृष्टि को रच कर इस में स्वयं प्रविष्ट है । वह स्वयं आनन्दमय है, यहाँ जो सारे परदे उठा कर, अपने आत्मा में उसको देख लेता है, वही परलोक में उस को भोगता है, दूसरा नहीं ।

सातवां अनुवाक ॥ ७ ॥

असद्वा इदमग्र आसीत् । ततो वै सदजा-
यत । तदात्मानं स्वयमकुरुत । तस्मात् तत्
सुकृतमुच्यते इति ॥ यद्वै तत्सुकृतम् । रसो वै
सः । रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति ।
को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात् । यदेष आकाश
आनन्दो न स्यात् ॥ एष ह्येवानन्दयाति ॥

यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्ये ऽनात्म्येऽनिरुक्ते-
 ऽनिलयने ऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते । अथ सोऽभयं
 गंतो भवति ॥ यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं
 कुरुते ॥ अथ तस्य भयं भवति । तत्त्वेव भयं
 विदुषो मन्वानस्य । तदप्येष श्लोको भवति । ७॥

आरम्भ में यह असत् * था, उस से सत् उत्पन्न हुआ ।
 उसने स्वयं अपने आप को बनाया, इस लिये वह सुकृत †
 कहलाता है, यह जो सुकृत है, वह रस है ‡ क्योंकि रस को
 पाकर ही यह (पुरुष) आनन्द भोगता है । कौन जो संकता,

* असत्, अव्यक्त रूप वाला, यह जगत् जो अब नाम
 रूप से भेद किया जाता है, यह उत्पत्ति से पूर्व अव्यक्त नाम-
 रूप वाला था, उससे सत् अर्थात् व्यक्त नाम रूप के भेद वाला
 यह विविध जगत् उत्पन्न हुआ । असत्=शुद्ध, सत्=शबल ॥

† सुकृत=अच्छा बना । अथवा सुकृत=सकृत, अपना
 बना हुआ, आ-आप बना हुआ, सुकृत=स्वयं बनाने वाला, पुरुष
 रूप चेतन ब्रह्म (शंकराचार्यः) ।

‡ रस है, सार है । यह निःसार जगत् उसी से सार
 वाला है । यह नीरस उसी से रस वाला है । जिस तरह रस
 आनन्द का हेतु है । उसी तरह ब्रह्म है । ब्रह्म ने स्वयं सब कुछ
 बनाया है वह सब के अन्दर रस रूप हो कर प्रविष्ट है । विद्वान्
 सब के अन्दर उस रस को भोगते हैं । और इसी लिये वह

कौन प्राण ले सकता, यदि यह आकाश * आनन्द न होता । यह ही आनन्द का हेतु है ।

† जब वह इस (हृदयस्थ ब्रह्म) में अभय प्रतिष्ठा (स्थिति) पा लेता है, जो (ब्रह्म) अद्वैत है, अशरीर है, अनिरुक्त है, और (किसी से) सहारा दिया हुआ नहीं है, तब वह अभय को पा लेता है । क्योंकि जब वह इस में एक थोड़ा सा भी भेद † करता है, तब उसे भय होता है । पर यह भय केवल उस के लिये है, जो अपने आप को विद्वान् मान लेता है § (संयं धीरं परिदंतम्मन्यमानं, न कि सञ्चे विद्वान् के लिये) । इस पर भी यह श्लोक है ॥ ७ ॥

बिना किसी बाह्य रस के उसी रस को पाकर तृप्त दीखते हैं । देखो कौपी० उप० १ । ५

* अथवा आकाश में हृदयाकाश में, आनन्द (ब्रह्म) न हो ॥

† यहां तक ब्रह्म का अस्तित्व दिखला कर, विद्वान् ही उस को प्राप्त होता है, अविद्वान् नहीं । इस के समर्थन के लिये अगला ग्रन्थ है ।

‡ उत् + अरम् = उदरम्, उत् = भी, अरम् = छिद्र, भेद । यह अर्थ शंकराचार्य के अनुसार दिया गया है । पर उत् = अपि और अरम् = छिद्रम् के अर्थ में प्रयुक्त है यह संदिग्ध है ।

§ ' विदुषोऽमन्वानस्य ' यहां अमन्वानस्य छेद करके शंकराचार्य ने यह अर्थ किया है, जो भेद को जानता है और अभेद को नहीं मानता है । शंकरानन्द ने लिखा है, कि जो कर्म-विद्या को जानता है पर ब्रह्म को मनन नहीं किया है ।

आठवां अनुवाक ॥ ८ ॥

भीषाऽस्माद् वातः पवते । भीषोदेति सूर्यः ।
 भीषाऽस्मादग्निश्चेन्द्रश्च । मृत्युर्धावति पञ्चम इति ।
 सैषाऽऽनन्दस्य मीमांसा भवति । युवा
 स्यात् साधु युवाऽध्यायकः । आशिष्ठो दृढि-
 ष्ठो बलिष्ठः । तस्येयं पृथिवी सर्वा वित्तस्य पूर्णा
 स्यात् ॥ स एको मानुष आनन्दः । ते ये
 शतं मानुषा आनन्दाः (१) । स एको मनुष्य-
 गन्धर्वाणामानन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामह-
 तस्य । ते ये शतं मनुष्यगन्धर्वाणां मानन्दाः ।
 स एको देवगन्धर्वाणां मानन्दः । श्रोत्रियस्य
 चाकामहतस्य । ते ये शतं देवगन्धर्वाणामा-
 नन्दाः । स एकः पितॄणां चिरलोकलोकानां
 मानन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये
 शतं पितॄणां चिरलोकलोकानामानन्दाः । स
 एक आनजानजानां देवानां मानन्दः (२)

श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शत माजा-
नजानां देवानामानन्दाः । स एकः कर्मदेवा-
नां देवानां मानन्दः । ये कर्मणा देवानपिय-
न्ति । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतं
कर्मदेवानां देवानामानन्दाः । स एको देवा-
नामानन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये
शतं देवानामानन्दाः । स एक इन्द्रस्यानन्दः ।

(३) श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शत-
मिन्द्रस्य ऽऽनन्दाः । स एको बृहस्पतेरानन्दः ।
श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतं बृहस्प-
तेरानन्दाः । स एकः प्रजापतेरानन्दः । श्रो-
त्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतं प्रजापते-
रानन्दाः । स एको ब्रह्मण आनन्दः । श्रोत्रिय-
स्य चाकामहतस्य (४) ॥

स यश्चायं पुरुषे । यश्चासावादित्ये । स एकः ।
स य एवंवित् । अस्माल्लोकात्प्रेत्य । एतमन्न-

मयमात्मानमुपसंक्रामति । एतं प्राणमय मा-
त्मानं मुपसंक्रामति । एतं मनोमयमात्मानं
मुपसंक्रामति । एतं विज्ञानमय मात्मानं मुपसं-
क्रामति । एतमानन्दमयमात्मानं मुपसंक्रामति ॥
तदप्येष श्लोको भवति ॥ ८ ॥

इस (ब्रह्म) के भय से वायु चलता है, भय से सूर्य
उदय होता है, इस के भय से अग्नि और इन्द्र, और पाँचवाँ
मृत्यु बौड़ता है । (देखो कंठ० उप० ६ । ३)

अब यह आनन्द का विचार (आस्मि होता) है—

मनुष्य जो युवा हो, पर साधु युवा (नैक युवक) हो
और (वेद) पढ़ा हुआ हो । बड़ा कुर्तिला, बड़ा दृढ़ और बड़ा
बलवान हो । यह सारी पृथिवी धन की भरी हुई उसकी हो ।
वह एक मानुष आनन्द (की चोटी) है । अब जो सौ मानुष आन-
न्द हो, वह एक मनुष्य गन्धर्वों का आनन्द है, और उस का
जो वेद को जानता है और कामहत (कामताओं से दबा
हुआ) नहीं है ।

मनुष्य गन्धर्वों के जो सौ आनन्द है, वह एक देवग-
न्धर्वों का आनन्द है, और उसका है, जो श्रोत्रिय है और का-
महत नहीं है ॥

वह देवगन्धर्वों के जो सौ आनन्द है, वह एक पितरों
का आनन्द है, जो चिरलोकलोक हैं । दीर्घकाल तक अपनी

नेक कमाई, के आनन्द भोगते हैं,) और उसका है, जो श्रोत्रिय है और कामहत नहीं है ॥

चिरलोकलोक, पितरों के जो सौ आनन्द हैं, वह एक आजानज देवताओं का आनन्द है, और उसका है, जो श्रोत्रिय है और कामहत नहीं है ।

आजानज देवताओं के जो सौ आनन्द हैं, वह एक कर्म-देव देवताओं का आनन्द हैं, जो (वैदिक) कर्म से देवताओं में मिलते हैं, और उसका है, जो श्रोत्रिय है, और कामहत नहीं है ।

कर्म देवताओं के जो सौ आनन्द हैं, वह एक देवों का आनन्द है, और उसका है, जो श्रोत्रिय है, और कामहत नहीं है ।

देवताओं के जो सौ आनन्द हैं, वह इन्द्र का एक आनन्द है । और उसका है, जो श्रोत्रिय है और कामहत नहीं है ।

इन्द्र के जो सौ आनन्द हैं, वह बृहस्पति का एक आनन्द है, और उसका है, जो श्रोत्रिय है, और कामहत नहीं है ।

बृहस्पति के जो सौ आनन्द हैं, वह प्रजापति का एक आनन्द है । और उसका है, जो श्रोत्रिय है और कामहत नहीं है ।

प्रजापति के जो सौ आनन्द हैं, वह ब्रह्मा का एक आनन्द है । और उसका है, जो श्रोत्रिय है और कामहत नहीं है * ॥

* यहां आनन्द के बहुत से दर्जे दिये गए हैं । और वह आनन्द क्रमशः जिनमें बढ़ता गया है, वे ये हैं, । मनुष्यगन्धर्व, देवगन्धर्व, पितर, आजानज देव, कर्मदेव, देव, इन्द्र, बृहस्पति,

जो यह (ब्रह्मा) है पुरुष में, और जो वह (ब्रह्म) है सूर्य में, वह एक है।

प्रजापति, ब्रह्मा। यह विषय लगभग ऐसा ही शतपथ ब्राह्मण १४। ७। १। ३१ में और काण्वशाखा के बृहदारण्यक उपनिषद् ४। ३। ३२ में भी पाया जाता है। आनन्द की पराकाष्ठा ब्रह्मलोक में है, और सब जीव इसी आनन्द का एक छोटा सा हिस्सा उपभोग करते हैं 'एतस्यैवाऽऽनन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति' (बृह० आ० उप० ४। ३। ३२)॥

यहां तैत्तिरीय में पहले मनुष्य हैं, पीछे मनुष्य गन्धर्व, फिर देव गन्धर्व, और फिर पितर आते हैं। माध्यन्दिन शतपथ और बृह० आ० उप० में पहले मनुष्य और उसके पीछे पितर हैं। मनुष्यगन्धर्व और देवगन्धर्वों का वहां वर्णन नहीं। फिर पितरों का विशेषण यहाँ चिरलोकलोक है, वहाँ जितलोक है। यहाँ वह आनन्द जो अकामहत श्रोत्रिय से उपभोग किया जाता है, उसकी समता मनुष्यगन्धर्वों से आरम्भ करके समाप्ति तक दिखाई है। और वहाँ पहले पहल आजानदेवों के साथ अकामहत श्रोत्रिय आया है। यहाँ गन्धर्व पहले और पितर पीछे हैं, वहाँ पितर पहले और गन्धर्व पीछे हैं ॥

हम नीचे तीनों के पाठ को आमने सामने रख कर सारे भेद स्पष्ट दिखला देते हैं—

तैत्ति० उ०

शतप० ब्रा०

बृह० आ० उप०

मनुष्य

मनुष्य

मनुष्य

जो इसकी जानता है, वह जब इस लोक से चलता है; तो वह इस अन्नमय आत्मा को पहुँचता है, इस प्राणमय आत्मा

मनुष्य गन्धर्व	—	—
(और श्रोत्रिय)		
देवगन्धर्व	—	—
पितर (चिरलोकलोक)	पितर (जितलोक)	पितर (जितलोक)
आज्ञानज देव	कर्मदेव	कर्मदेव
कर्मदेव	आज्ञानदेव	आज्ञानदेव
	(और श्रोत्रिय)	(और श्रोत्रिय)
देव	देव	—
इन्द्र	गन्धर्व	—
बृहस्पति	—	—
प्रजापति	प्रजापति	प्रजापति
ब्रह्मा	ब्रह्मा	ब्रह्मा

यहां जो गन्धर्वों का आनन्द, प्रजापति का आनन्द और ब्रह्मा का आनन्द कहा है। बृहदारण्यक में इसकी जगह गन्धर्वलोक में आनन्द, प्रजापतिलोक में आनन्द और ब्रह्मलोक में आनन्द कहा है। यह मनुष्य से ऊँचे मनुष्यगन्धर्व आदि कौन हैं ? और उनके लोक कौन हैं ? इसका निर्णय करने वाले हमारे पास पुष्कल प्रमाण नहीं हैं। प्राचीन व्याख्याओं में भी यह बात पूरी हल की हुई नहीं है। स्वामी शंकराचार्य ने जो लिखा है, वह यह है मनुष्य गन्धर्व वह हैं, जो पहले मनुष्य होकर कर्म और उपासना के सामर्थ्य से गन्धर्व हुए हैं। उनमें अन्तर्धान हो जाना पास होकर भी दूसरों की दृष्टि से

को पहुँचना है, इस मनोमय आत्मा को पहुँचता है, इस विद्या-
नमय आत्मा को पहुँचता है, इस अनन्दमय आत्मा को
पहुँचता है ।

छिप जाना इत्यादि शक्तियें हैं । उनके शरीर और इन्द्रिय
सूक्ष्म हैं । इसी लिये वह आसानी से जा आ सकते हैं और
जान सकते हैं—और जो कुछ अपने प्रतिकूल हो, उसको वह
आसानी से हटा सकते हैं । अपनी रुचि के पूरा करने में रुका-
वट होनी, और प्रतिकूल का प्रतीकार न सूझना, यही दो बातें
चित्त को गंदला रखती हैं । मनुष्य गन्धर्वों में यह त्रुटि मनु-
ष्यों की अपेक्षा बहुत ही कम होती है, इस लिए उनका चित्त
अधिक प्रसन्न (निर्मल) रहता है और चित्त जितना निर्मल
अधिक हो, उतना ही अधिक सुख अभिव्यक्त होता है । इसी
प्रकार पहली २ भूमि से अगली २ भूमि अधिक निर्मल होने से
सौ २ गुना अधिक आनन्द बढ़ता जाता है । देवगन्धर्व वे हैं,
जो जन्म से गन्धर्व हैं । पितरों का विशेषण चिरलोकलोक
इस लिये है, कि वह पितृलोक में चिरकाल तक रहते हैं,
यद्यपि वह उस लोक में सर्वदा नहीं रहते । अजानजदेव यह
हैं, जो नेक बर्ताव से देव स्थानों में उत्पन्न हुए हैं । भ्राजान=
देवलोक, उसमें उत्पन्न हुए=भ्राजानज । कर्मदेव यह हैं, जो
केवल वैदिक कर्म अग्नि होत्र आदि से देवता बने हैं । देव-३३
हैं, जिनके लिये हवि दी जाती है । इन्द्र उनका स्वामी है ।
बृहस्पति इन्द्र का पुरोहित है । प्रजापति=विराट् और ब्रह्मा=
हिरण्यगर्भ । शंकरानन्द ने मनुष्यगन्धर्वों के विषय में 'अन्-
रिक्ष में रहने वाले', अधिक लिखा है । द्विवेदगङ्गा ने शतपथ

इस परमी यह श्लोक है ॥ ८ ॥

यतो वाचो निवर्तन्ते । अप्राप्य मनसा सह ।
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् । न विभेति कुतश्च-
नेति । एतं ह वाच न तपोति । किमहंसाधु
नाकरवम् । किमहं पापमकरवमिति । स य एवं
विद्वानेते आत्मानं स्पृणुते । उभे ह्येवैष एते
आत्मानं स्पृणुते । य एवं वेद । इत्युप-
निषत् ।

यह जो ब्रह्म के उस आनन्द को जानता है, जहाँ से मृत
समेत वाणियों चिन पहुँचे लीट आती हैं, वह किसी से नहीं
डरता है ।

ब्राह्मण में इस प्रकार लिखा है । पितर यह हैं, जिन्होंने नैऋति
मार्ग से पितृलोक को जीता है । जो अपने जीवितकाल में पितृ-
यज्ञों को पूरा करते रहे हैं । कर्मदेव यह हैं, जो धीरे धीरे कर्मों के
अनुष्ठान से देवता बने हैं । आजानदेव यह हैं, जो जन्म से ही
देवता हैं न कि मनुष्यों से देवता बने हैं, प्रजापति विराट् है ।
और ब्रह्मा हिरण्यगर्भ है । शंकराचार्य ने बृहदारण्यक में भी
ऐसी ही व्याख्या की है । वहाँ आजानदेवों के विषय में यह
लिखा है, ' आजानतः, उत्पत्तिः ' अर्थात् जो जन्म से देवता
हैं, वह आजानदेव हैं ॥

* इसको यह ख्याल नहीं तपोता है, कि क्या मैंने नेक काम न किया ? और क्या मैंने पाप किया ? वह जो इस प्रकार इन दोनों (पुण्य और पाप) को जानता है, † वह अपने आप को बलवान् बनाता है । क्योंकि यह इन दोनों से आत्मा को बलवान् बनाता है, जो इस प्रकार (ब्रह्म को) जानता है । यह उपनिषद् (परमरहस्य दिखला दिया) है । ६ ।

* मरणकाल में यह दोनों भय जो मनुष्य के सामने आते हैं, कि हा कष्ट मैंने यूँही जन्म खोदिया । कुछ भी पुण्य सञ्चय न किया, जिस का सञ्चय करना इस से पहले मेरे हाथ में था । और शोक मैंने पाप कर्म कमाए, जिन को, अब जब कि और सब कुछ यहीं छोड़ कर चला हूँ, साथ लिये जाता हूँ । यह दोनों भय उस के लिये नहीं रहते, जो यहां ब्रह्म के आनन्द को अनुभव कर लेता है । वह पाप पुण्य दोनों से ऊंचा होजाता है । जो भावना कर्मों को पुण्य और पाप बनाती है, यह उस से ऊपर होगया है । उस के जिन कर्मों को हम पुण्य समझते हैं, वह स्वाभाविक होते हैं, न कि पुण्य की भावना से, और पाप कर्म को तो वह उसी समय बुरा हटा चुका है, जब वह ब्रह्म प्राप्ति के यत्न में था, क्योंकि नाविरतो दुश्चरितान् वह उस को नहीं जानता, जो दुश्चरित से नहीं हटा है । इस लिये ब्रह्मज्ञानी के विषय में बल देकर कहा है 'न विमेतुकृतश्चन' ।

† सत्यः से स्पृणुते, तक इन दोनों वाक्यों का अर्थ स्पष्ट नहीं है ।

* ब्रह्मचिद्, इदं, अयं, इदं, एकविंशतिः (१)
अन्नात् । अन्नरश्मययान्, प्राणः, व्यानः अपानः, आकाशः,
पृथिवी पुच्छं, पञ्चविंशतिः (२) प्राणं, यजुः, ऋक्, साम,

* यह समाप्ति में ब्रह्मचिद् के अनुवाक और उन के
वाक्यों की गणना की है । १. २ आदि अंक पहला दूसरा आदि
अनुवाक दिखलाने के लिये दिया है । पहला अनुवाक 'ब्रह्मचिद्'
से आरम्भ होना है, इस लिये यहाँ पहले लिखा है 'ब्रह्मचिन्' ।
इस अनुवाक में २१ वाक्य हैं, इस लिये अन्त में लिखा है 'एक
विंशतिः' और 'इदं, अयं, इदं' इस का तात्पर्य यह है, कि इस
अनुवाक में अन्नरश्मि कोश का जो वर्णन है, उस के ये प्रधान
अवयव हैं । जैसे वहाँ का पाठ है 'इदमेव शिरः । अयं दक्षिणः
पक्षः । अयमुत्तरः पक्षः । अयमात्मा । इदं पुच्छं प्रतिष्ठा' यहाँ
पहले 'इदम्' है, फिर तीन बार 'अयम्' फिर 'इदम्' ये पाँचों
अंग हैं । इसी प्रकार 'अन्नात्' इस से दूसरे अनुवाक का आरम्भ
है । 'अन्नरश्मययान्' दूसरे (प्राणमय) कोश का आरम्भ है ।
प्राण, व्यान अपान, आकाश, पृथिवी, ये पाँचों अंग हैं । ३६
(पञ्चविंशतिः) इस में वाक्य हैं । इसी तरह (५) तक जानना
चाहिये । द्वाविंशतिः=२२, अष्टादश=१८ । 'असन्नेव' यह छटे
का आरम्भ वाक्य है, २८ वाक्य हैं । सातवें का आरम्भ वाक्य
'असत्' वाक्य-१६ । आठवें का 'भीषडस्मात्' आरम्भ वाक्य है,
इस अनुवाक में विशेष वात 'मानुषः' से आरम्भ करके 'ब्रह्मणः'
तक आनन्द के दर्जे दिखलाए हैं । 'सयश्च' से इस आनन्द की
लोक परलोक में एकता दिखला कर 'संक्रामति' से परलोक
में ज्ञानी के लिये उस की प्राप्ति दिखलाई है । इस में वाक्य ५१

आदेशः, अथर्वाङ्गिरसः पुच्छं, द्वाविंशतिः (३) यतः, श्रद्धा, ऋतश्च, सत्यं, योगः, महः, अष्टादश (४) विद्वानं, प्रियं, मोदः प्रमोदः आनन्दः, ब्रह्मपुच्छं, द्वाविंशतिः (५) असन्नेय, अष्टाविंशतिः (६) असत्, षोडश (७) भीष्माऽस्मात्, मानुषः मनुष्यगन्धर्वाणां, देवगन्धर्वाणां, पितॄणां चिरलोक-
लोकानां, आजानजानां देवानां, कर्मदेवानां, इन्द्रस्य, बृहस्पतेः, प्रजापतेः, ब्रह्मणः, स यश्च, सङ्क्रामति, एकपञ्चाशत् (८) यतः कुतश्चन, एकादश (९)

ब्रह्मवित्, य एवं वेद, इत्युपनिषत् ॥

* सहनाववतु । सह नौ भुनक्तु । सहवीर्यं करवावहै ।
तेजसि नावधीतमस्तु । माविद्वपावहै । ओ३म् शान्तिः शान्तिः
शान्तिः ।

† भृगुवल्ली (३) पहला अनुवाक ॥ १ ॥

ओ३म् । सहनाववतु । सहनौ भुनक्तु । सह-

है । 'यतः' नवें का आरम्भ वाक्य है । 'कुतश्चन' पर जोर दिया है । वाक्य ११ है ।

'ब्रह्मवित्' ब्रह्मवल्ली का आरम्भ वाक्य है 'य एवं वेद । इत्युपनिषत्' समाप्ति-वाक्य है ।

* यह वल्ली की समाप्ति का शान्ति पाठ है, जो आरम्भ में भी आया है और भृगुवल्ली के आरम्भ और समाप्ति में भी है । कठ की समाप्ति में भी आया है । और भी कई जगह प्रयुक्त हुआ है । अर्थ इस वल्ली के आरम्भ और कठ की समाप्ति में दे आए हैं ।

† ब्रह्मविद्या कह दी है, उस की प्राप्ति के उपाय पञ्च

वीर्यं करवावहै । तेजस्विनावधीतमस्तु । मावि-
द्विषावहै । ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

(यह फिर वल्ली के आरम्भ का शान्तिपाठ है) ।

भृगुर्वै वारुणिः । वरुणं पितरमुपससार ।
अधीहि भगवो ब्रह्मेति । तस्मा एतत्प्रोवाच ।
अन्नं प्राणं चक्षुः श्रोत्रं मनो वाचमिति । त-
होवाच । यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते ।
येन जातानि जीवन्ति । यत् प्रयन्त्यभिसंवि-
शन्ति । तद्विजिज्ञासस्व । तद् ब्रह्मेति । स-
तपोऽतप्यत । स तपस्तप्त्वा ॥ १ ॥

कोश बतलाए हैं । अब इन पाचों कोशों में क्रमशः प्रवेश कराने
वाला साधन तप बतलाते हैं । और ब्रह्म के जिज्ञासु को श्रद्धा
भक्ति पूर्वक गुरु की शरण लेनी चाहिये । तब वह गुरु के बत-
लाए मार्ग पर चलता हुआ उत्तरोत्तर भूमि में प्रवेश करता
हुआ ब्रह्मानन्द को पा लेगा, यह भृगु के इतिहास से दिखलाते
हैं । अन्त में कई एक व्रत और उपासना दिखला कर ब्रह्म-
ज्ञानी की कृतकृत्यता दिखला कर उपनिषद् को समाप्त
किया है ॥

वरुण का पुत्र भृगु अपने पिता वरुण के पास गया, (और-कहा) ' भगवन् ! मुझे ब्रह्म बतलाएं ' उसने उस को यह कहा- ' अन्न, प्राण, नेत्र, श्रोत्र, मन, वाणी ' * ।

और उस को फिर कहा- ' जिस से भूत (जन्तु) उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न हो कर जिस से जीते हैं, और मरते हुए जिस में प्रवेश करते हैं, उस को जानने की इच्छा (प्रयत्न) कर, वह ब्रह्म है ' । उसने तप तपा, † और तप तप कर-॥ १ ॥

* अभिप्राय यह है, कि, ब्रह्म जिसका आगे (जिससे ये भूत उत्पन्न होते हैं इत्यादि) लक्षण किया है, उसको अन्न आदि के द्वारा जान । जैसा कि अन्यत्र कहा है ' प्राणस्य प्राण मुत चक्षुषश्चक्षुत श्रोत्रस्य श्रोत्रमन्नस्यान्न मनसो ये मनो विदुस्ते निचिक्वुर्ब्रह्मपुराणमग्रथम् ' वे जो प्राण के प्राण, नेत्र के नेत्र, श्रोत्र के श्रोत्र, अन्न के अन्न, और मन के मन को जानते हैं, वह पुराने सब से श्रेष्ठ ब्रह्म को जानते हैं । इस से यह दिखलाया है कि अन्न, प्राण, नेत्र, श्रोत्र, मन, वाणी, ये ब्रह्म की उपलब्धि में द्वार हैं (शंकराचार्य)

† पिता ने भृगु को ब्रह्म का लक्षण बतला दिया, और उस के ज्ञान के द्वार (अन्न प्राण आदि) बतला दिये । पर अभी उसके प्रश्न का उत्तर पूरा नहीं हुआ, तथापि वरुण ने इस के आगे कुछ नहीं कहा । योग्य शिष्य ने पिता के अभिप्राय को पाया । और उसने इस लक्षण वाले को ढुंढने के लिये तप तपा । तप तपने के पीछे जो उस लक्षणवाला पहले पहल उसे प्रतीत हुआ, वह आगे दिखलाते हैं । तप से अभिप्राय धर्म-परायण होकर अन्तःकरण को शुद्ध प्रदीप्त बनाने से है ।

दूसरा अनुवाक ॥ २ ॥

अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात् । अन्नाद्ब्रूथैव त्व-
ल्लिमानि भूतानि जायन्ते । अन्नेन जातानि
जीवन्ति । अन्नं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति ।
तद्विज्ञाय । पुनरेव वरुणं पितरमुपससार । अधी-
हि भगवो ब्रह्मेति । तद्ब्रह्मवाच । तपसा ब्रह्म
विजिज्ञासस्व । तपो ब्रह्मेति । स तपोऽतप्यत ।
स तपस्तप्त्वा ॥ २ ॥

उसने अन्न * को ब्रह्म जाना, क्योंकि अन्न से ये भूत
उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर अन्न से बढ़ते हैं, और मरते हुए
अन्न में प्रवेश करते हैं ।

यह जानकर, वह फिर अपने पिता वरुण के पास गया
और कहा 'भगवन् । मुझे ब्रह्म बतलाए' । उसने उसे कहा
'तप से ब्रह्म को जानने को इच्छा कर, क्योंकि तप ब्रह्म है' †
उसने तप तपा, और तप तप कर— । २ ।

* पूर्व जिस क्रम से अन्नमयादि कोश बतलाए हैं,
उसी क्रम से भृगु का प्रवेश इन कोशों में हुआ है । जब तक वह
आनन्दमय कोश तक नहीं पहुँचा, उस का संशय नहीं मिटा ।
इस लिये वह जानकर भी बार २ पिता के पास आया है ।

अन्न=विराट, क्योंकि इस में लक्षण घट सकता है,
(आनन्दगिरि)

† ब्रह्म की प्राप्ति का पूर्ण साधन है ॥

तीसरा अनुवाक ॥ ३ ॥

प्राणो ब्रह्मेति व्यजनात् । प्राणाद्धयेव खल्वि-
मानि भूतानि जायन्ते । प्राणेन जातानि जीवन्ति । प्राणं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति । तद्वि-
ज्ञाय । पुनरेव वरुणं पितरमुपससार । अधीहि
भगवो ब्रह्मेति । त * होवाच । तपसा ब्रह्म
विजिज्ञासस्व । तपो ब्रह्मेति । स तपोऽतप्यत ।
स तपस्तप्त्वा ॥ ३ ॥

उसने प्राण * को ब्रह्म जाना । क्योंकि प्राण से सब भूत
उत्पन्न होते हैं; उत्पन्न होकर प्राण से जीते हैं; और मरते हुए
प्राण में प्रवेश करते हैं ।

यह जान वह फिर अपने पिता वरुण के पास आया
भगवन् ! मुझे ब्रह्म बतलाएँ, उसको उसने कहा 'तप से ब्रह्म
को जानने की इच्छा कर, क्योंकि तप ब्रह्म है' ।

उसने तप तपा, और तप तप कर—॥ ३ ॥

मनो ब्रह्मेति व्यजनात् । मनसा ह्येव खल्वि-
मानि भूतानि जायन्ते । मनसा जातानि जीव-
न्ति । मनः प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति । तद्वि-

ज्ञाय । पुनरेव वरुणं पितरमुपससार । अधीहि
भगवो ब्रह्मेति । त ५ होवाच । तपसा ब्रह्म
विजिज्ञासस्व । तपो ब्रह्मेति । स तपोऽतप्यत ।
स तपस्तप्त्वा ॥ ४ ॥

उसने मनको ब्रह्म जाना । क्योंकि मनसे ही सब भूत
उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर मनसे ही जीते हैं, और मरते हुए
मन में ही लीन होते हैं ।

यह जान घट फिर अपने पिता वरुण के पास आया
' भगवन् मुझे ब्रह्म घटलार्थ ' उसको उसने कहा ' तप से ब्रह्म
को जानने की इच्छा कर, क्योंकि तप ब्रह्म है '

उसने तप तपा, और तप तप कर ॥ ४ ॥

पाँचवां अनुवाक ॥ ५ ॥

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात् । विज्ञानाद्भवे
स्खल्विमानि भूतानि जायन्ते । विज्ञानेन जा-
तानि जीवन्ति । विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशं-
शन्तीति । तद्विज्ञाय । पुनरेव वरुणं पितर-
मुपससार । अधीहि भगवो ब्रह्मेति । त ५ हो-
वाच । तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व । तपो ब्रह्मेति ।
स तपोऽतप्यत । स तपस्तप्त्वा ॥ ५ ॥

उसने विज्ञान को ब्रह्म जाना, क्योंकि विज्ञान से ही सब भूत उत्पन्न होते हैं; उत्पन्न होकर विज्ञान से जीते हैं और मरते हुए विज्ञान में प्रवेश करते हैं।

यह जान कर वह फिर अपने पिता वरुण के पास आया 'भगवन् ! मुझे ब्रह्म बतलाए' उसको उसने कहा 'तप से ब्रह्म को जानने की इच्छा कर, क्योंकि तप ब्रह्म है'।

उसने तप तपा, और तप तप कर ॥ ५ ॥

छटा अनुवाक ॥ ६ ॥

आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात् । आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते । आनन्देन ज्ञातानि जीवन्ति । आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति ।

सैषा भार्गवी वारुणी विद्या परमे व्योमन् प्रतिष्ठिता । स य एवं वेद प्रतितिष्ठति । अन्नवानन्नादो भवति । महान् भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन । महान् कीर्त्या । ६ ।

उसने आनन्द को ब्रह्म जाना, क्योंकि आनन्द से ही ये सब भूत उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर आनन्द से जीते हैं, और मरते हुए आनन्द में प्रवेश करते हैं।

यह है भृगु की और वरुण की विद्या *, परम आकाश में (हृदय में) प्रतिष्ठा वाली † जो इस प्रकार जानता है, प्रतिष्ठा वाला होता है । प्रभूत अन्न वाला, और अन्न का खाने वाला (स्वस्थ नीरोग) होता है । और महान् होता है, प्रजा (सन्तति) से, पशुओं से और ब्रह्मवर्चस से, और महान् कीर्ति से ॥ ६ ॥

सातवां अनुवाक ॥ ७ ॥

अन्नं न निन्द्यात् । तद् व्रतम् । प्राणो वा
अन्नम् । शरीरमन्नादम् । प्राणे शरीरं प्रति-
ष्ठितम् । शरीरे प्राणः प्रतिष्ठितः । तदेतदन्न-

* जो वरुण ने सिखलाई और उसे के पुत्र भृगु ने सीखी है ।

† जो विद्या अन्नमय से प्रवृत्त होकर हृदयाकाश की शुका में जो परम आनन्द है, उसमें पहुँच कर ठहरा है, समाप्त हुई है ।

और भी जो कोई इस विद्या को तप के ही साधन से और इसी क्रम से अन्दर अन्दर प्रवेश करता हुआ, आनन्द ब्रह्म को जान लेता है, वह उस परम आनन्द में जा ठहरता है । और यह उसको लौकिक फल होता है, कि उसके पास प्रभूत अन्न होता है, और नीरोग रह कर उस को भोगता है । इत्यादि ॥

मन्त्रे प्रतिष्ठितम् । स य एतदन्नमन्त्रे प्रतिष्ठितं
वेदं प्रतिष्ठिति । अन्नवानन्नादो भवति ।
महान् भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन । महान्
कीर्त्या ॥ ७ ॥

अन्न की कभी निन्दा न करें, यह व्रत है ॥

॥ प्राण अन्न * है, शरीर अन्न का खाने वाला है । शरीर प्राण के सहारे है, और प्राण शरीर के सहारे है । वह जो यह जानता है, कि अन्न, अन्न पर ठहरा हुआ (अन्न के सहारे) है, वह प्रतिष्ठा वाला होता है, प्रभूत अन्न वाला और अन्न का खाने वाला (नीरोग) होता है । महान् होता है, प्रजा (सन्तति) से, पशुओं से, ब्रह्मवर्चस् से, महान् कीर्ति से ॥

आठवां अनुवाक ॥ ८ ॥

अन्नं न परिचक्षीत । तद्व्रतम् । आपो

* क्योंकि शरीर में अन्न की तरह रहता है ।

† अन्न और प्राण एक दूसरे के सहारे हैं । इस का सारांश यह है, कि इसलोक में एक हस्ती दूसरी हस्ती पर निर्भर रखती है । एक अन्न है, दूसरा अन्नाद (खाने वाला) है । जो अन्न है, वह भी अन्नाद है, और जो अन्नाद है, वह भी अन्न है । प्राण शरीर में अन्न की तरह रहता है । प्राण अन्न है और शरीर अन्नाद है । और शरीर प्राण के सहारे है, इस प्रकार शरीर अन्न है और प्राण अन्नाद है ।

वा अन्नम् । ज्योतिरन्नादम् । अप्सु ज्योतिः
प्रतिष्ठितम् । ज्योतिष्यापः प्रतिष्ठिताः । तदे-
तदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम् । स य एतदन्नमन्ने प्रति-
ष्ठितं वेद प्रतिष्ठिति । अन्नवानन्नादो भवति ।
महान् भवति प्रजया भशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन । महान्
कीर्त्या ॥ ८ ॥

अन्न को परे न हटाए (अनादर न करे) यह व्रत है ।

जल अन्न है, ज्योति अन्नाद (अन्न का खाने वाला) है ।
ज्योति जल के सहारे है, और जल ज्योति के सहारे है । इस
प्रकार यह अन्न अन्न के सहारे है (जल और ज्योति एक दुसरे
पर सहारा रखते हैं) । जो जानता है, कि यह अन्न अन्न के
सहारे पर है, वह प्रतिष्ठित होता है, प्रभूत अन्न वाला और
अन्न का खाने वाला (नीरोग) होता है । महान् होता है,
प्रजा से पशुओं से, और ब्रह्मवर्चस से, महान् कीर्ति से ॥८॥

नन्ना अनुवाक ॥ ९ ॥

अन्नं बहु कुर्वीत । तद्व्रतम् । पृथिवी
वा अन्नम् । आकाशोऽन्नादः । पृथिव्यामां-
काशः प्रतिष्ठितः । आकाशे पृथिवी प्रति-
ष्ठिता । तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम् । स य

एतदमन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेदं प्रतिष्ठिति ।
 अन्नवानन्नादो भवति । महान् भवति प्रजया
 शुभिर्वह्मवर्चसेन । महान् कीर्त्या ॥ ९ ॥

अन्न को बहुत सम्पादन करे, यह व्रत है ॥

पृथिवी अन्न है, आकाश अन्नाद (अन्न का खाने वाला)
 है । आकाश पृथिवी पर (वा, में) ठहरा हुआ है; पृथिवी
 आकाश पर (वा, में) ठहरी हुई है । इस प्रकार यह अन्न अन्न
 पर ठहरा हुआ है जो जानता है, कि यह अन्न अन्न पर ठहरा
 हुआ है, वह प्रतिष्ठित होता है, प्रभूत अन्न वाला और अन्न का
 खाने वाला होता है । महान् होता है, प्रजा से, पशुओं से,
 ब्रह्मवर्चस से, और महान् कीर्ति से ॥ ९ ॥

दसवां अनुवाक ॥ १० ॥

न केचन व्रसतौ प्रत्याचक्षीत । तद्व्रतम् ।
 तस्माद् यया कया च विधया बबहन्नं प्राप्नु-
 यात् । आराध्यस्मा अन्नमित्याचक्षते । एतद्वै
 मुखतो ऽन्नञ्जराद्धम् । मुखतो ऽस्मा अन्नञ्जरा-
 ध्यते । एतद्वै मध्यतो ऽन्नञ्जराद्धम् । मध्यतो
 ऽस्मा अन्नञ्जराध्यते । एतद्वै अन्ततो ऽन्नञ्जरा-

द्धम् । अन्ततोऽस्मा अन्नञ्च राध्यते (१) । य
एवं वेद ॥

क्षेम इति वाचि । योगक्षेम इति प्राणाया-
नयोः । कर्मेति हस्तयोः । गतिरिति पादयोः ।
विमुक्तिरिति पायौ । इति मानुषीः समाज्ञाः ।
अथ दैवीः । तृप्तिरिति वृष्टौ । बलमिति विद्यति
(२) । यश इति पशुषु । ज्योतिरिति नक्षत्रेषु ।
प्रजातिरमृतमानन्द इत्युपस्थे । सर्वमित्याकाशे ।

तत् प्रतिष्ठेत्युपासीत । प्रतिष्ठावान् भवति ।
तन्मह इत्युपासीत । महान् भवति । तन्मन-
इत्युपासीत । मानवान् भवति (३) तन्नम-
इत्युपासीत । नम्यन्ते ऽस्मै कामाः । तद्ब्रह्मे-
त्युपासीत । ब्रह्मवान् भवति । तद्ब्रह्मणः परि-
मर इत्युपासीत । पर्येणं प्रियन्ते द्विषन्तः सप्त-
त्नाः । परि ये ऽप्रिया आतृन्याः ।

स यश्चायं पुरुषे । यश्चासावादित्ये । स एकः

(४) । स य एवंवित् । अस्माँल्लोकात्प्रेत्य ।
 एतमन्नमयमात्मानमुपसंक्रम्य । एतं प्राणिमय-
 मात्मानमुपसंक्रम्य । एतं मनोमयमात्मानमुप-
 संक्रम्य । एतं विज्ञानमयमात्मानमुपसंक्रम्य ।
 एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रम्य । इमाँल्लो-
 कान् कामात्री क मरूप्यनुसंचरन् । एतत्साम-
 गायत्रास्ते ।

हा ३ बुहा ३ वु हा ३ वु (५) अहमन्नमह-
 सन्नं महसन्नम् । अहमन्नादो ऽहमन्नादो ऽ-
 रहमन्नादः । अह ५ श्लोककृदह ५ श्लोककृदह ५
 श्लोककृत् । अहमस्मि प्रथमजा ऋता३स्य ।
 पूर्वदेवेभ्यो अमृतस्य ना ३ भायि । यो मा-
 ददाति स इदेव मा३ऽऽवाः । अहमन्नमन्न-
 मदन्तमा३क्षि । अहविश्च भुवनमभ्यभवा३म् ।
 सुवर्नज्योतिः । य एव वेद । इत्युपनिषत् (६) १०

कभी किसी (अतिथि) को अपने घर से बाधित न फेरे, यह व्रत है । इस लिये पुरुष को चाहिये, कि जिस किसी विध से बहुत अन्न प्राप्त करे, क्योंकि (भले—) लोग इस के लिये (अतिथि के लिये) अन्न तय्यार है यही कहने हैं ('न' कभी नहीं करते) । यदि वह (दाता) मुख्यता से (आदर मान से) अन्न तय्यार करता है (देना है, अतिथि के लिये), तो मुख्यता (आदर मान) से इस (देने वाले) के लिये अन्न तय्यार होता है, यदि वह साधारणता से इस के लिये अन्न तय्यार करता है, तो साधारणता से इस के लिये अन्न तय्यार होता है, यदि वह निरुद्यता से अन्न देना है तो निरुद्यता से इसके लिये अन्न तय्यार होता है । जो इस प्रकार जानता है । (= जैसा दिया वैसा ही मिलता है । इस लिये सद् आदर मान से देना चाहिये) ।

* रक्षारूप से बाणों में, प्राप्ति और रक्षा के रूप से प्राण और अपान में, कर्मरूप से दार्थों में, गतिरूप से पाथों में,

* यह ब्रह्म की पहचान और उपासना है । उपनिषदों की भूमिका में उपनिषदों का यह सिद्धान्त हम स्थिर कर आए हैं, कि जिस किसी पदार्थ में जो २ शक्ति प्रकाशती है, वह सब ब्रह्म की महिमा को बोधन करती है, क्योंकि उसके बिना न आग जल सकती है, न आंख देख सकती है । इस लिये आग में जलाना और आंख में देखना यह ब्रह्म की पहचान है ' कवप्रेप्सन्दीप्यत ऊर्ध्वोऽग्निः ' कहाँ पहुँचना चाहता हुआ अग्नि ऊपर को चमकता है । (अथर्व १०।७।४) इसी आशय से यहां ये पहचान दी हैं ।

व्यागरूप से गुदा में । यह मानुषी समाज्ञाप है (यह ब्रह्म की वह पहचान है, जो मनुष्य के कर्मों में प्रकाशित होती है) अब देवी समाज्ञाप [ब्रह्म की वह पहचान, जो देवताओं से सम्बन्ध रखती है] कहते हैं । तृप्तिरूप से वृष्टि में, बलरूप से बिजली में, यज्ञरूप से पशुओं में, ज्योतिरूप से नक्षत्रों में, [पुत्र पौत्रादि रूप से] आगे बढ़ना, अमृतत्व, और आनन्दरूप से उपस्थ में, सर्वरूप से आकाश में ।

उस (ब्रह्म) को सबका सहारा जानकर उपासे, तब सहारा देने वाला बनता है । उसको महान् जानकर उपासे, तब वह महान् होजाता है । उसकी मन के रूप से उपासे, तब मन वाला (मनस्वी) होजाता है । उसको भुक्ताव (जिस के आगे सब भुक्ते हैं) के रूप से उपासे, तब उसके लिये सारी कामनाएं भुक्त पड़ती हैं । उसको ब्रह्मरूप से उपासे, तब वह ब्रह्म वाला होजाता है । उसको ब्रह्म का परिमर† = ब्रह्माण्ड का लय करने वाला है, इस प्रकार उपासे, तब इस से द्वेष करने वाले शत्रु चारों ओर मरते हैं, और चारों ओर वह शत्रु मरते हैं, जो इसे अप्रिय हैं ।

वह (ब्रह्म) जो यह पुरुष में है, और जो यह सूर्य में है । वह एक है ‡ । जो यह जानता है, जब वह इस लोक से चलता है, तो वह इस अन्नमय आत्मा को प्राप्त होकर, इस प्राणमय

* विराट् की नाई स्थूल भोगरूप साधनों वाला (आनन्दगिरि) बड़ा हुआ वा वेदवाला (शंकरानन्द) ।

† परिमर = वायु । क्योंकि उसमें अग्नि, सूर्य, चन्द्र और विद्युन् लीन होने हैं । देखो कौषी० उप । २१-१५ ।

‡ मिलाओ २ । ८ से

आत्मा को प्राप्त होकर, इस मनोमय आत्मा को प्राप्त हो कर, इस विशानमय आत्मा को प्राप्त हो कर, इस धानन्दमय आत्मा को प्राप्त हो कर कामान्नी और कामरूपी (कामनानुसार भोगों वाला और कामनानुसार रूप वाला) हो कर इन सारे लोकों में घूमता हुआ यह साम गाता हुआ वर्तता है- * ' हाबु, हाबु, हाबु ! मैं अन्न हूं, मैं अन्न हूं, मैं अन्न हूं । मैं अन्नाद (अन्न का खाने वाला) हूं, मैं अन्नाद हूं, मैं अन्नाद हूं ! मैं श्लोककृत् हूं, मैं श्लोककृत् हूं, मैं श्लोककृत् हूं † ! मैं ऋत का प्रथमज (पहली उत्पत्ति, सब से बड़ा वेडा वा बड़ा भाई) हूं † । देवताओं से पहले मैं अमृत का नाभि (केन्द्र) हूं । § जो मुझे दे देता है, वही मेरी रक्षा करता है । मैं उस को अन्न के तीर पर खा जाता हूं, जो अन्न खाने वाला है । मैं सारे भुवन को दबाए हुए हूं । मैं ज्योति हूं.

* इस सामगान में मुक्त पुरुष की कृतकृत्यता दिखलाई गई है । हाबु हाबु । यह स्तोम है अहो अहो (आश्चर्य आश्चर्य) इस अर्थ में तीन २ बार कहना सर्वत्र विस्मय (आश्चर्य होना) को जितलाना है ।

† श्लोककृत्, श्लोक=अन्न और अन्नाद का मेल, उसका करने वाला, चेतनाधान् । अथवा अन्नाद के लिये अनेक प्रकार से अन्न का संघात (मेल) करने वाला (शंकराचार्य) कीर्ति वाला (शंकरानन्द)

‡ ऋत=सत्य=मूर्त अमूर्त जगत्, प्रथमज पहले वर्तमान (शंकराचार्य, सुरेश्वराचार्य) प्रथमज=हिरण्यगर्भ (शंकरानन्द)

§ जो अन्नार्थियों को दिये बिना अन्न खाता है, उसका मैं अन्न के तीर पर खाता हूं और जो अर्थियों के ताईं मुझे) अन्न को) देकर खाता है, वह मेरी रक्ष करता है (शंकराचार्य)

जैसा कि सूर्य है । जो इस प्रकार जानता है (उस के लिये यह यथोक्त फल होता है) । यह उपनिषद् है ॥१०॥

भृगुः, तस्मै, यतोवै, विशन्ति तद्विजिज्ञा-
सस्व, तत त्रयोदश (१) अन्नं (२) प्राणः
(३) मनः (४) विज्ञानं, तद्विज्ञाय, तं, तपसा
द्वादश द्वादश (५) आनन्दः इति, सैषा,
दश (६) अन्नं न निन्द्यात्, प्राणः, शरीरम्
(अन्नं न परिचक्षीत, आपः, ज्योतिः) (८)
अन्नं बहु कुर्वीत, पृथिव्यामाकाशः, एकादशैका-
दश (९) न कंचन, एकपष्टिः (१०) दश ।

यह अनुवाकों का संग्रह है । पहला अनुवाक भृगु से आरम्भ होता है, इस में मुख्य वाक्य तस्मै, इत्यादि हैं । सारे वाक्य १३ हैं । २. ३. ४ अनुवाकों में बारह २ वाक्य हैं और इनमें मुख्य वाक्य तद्विज्ञाय, तं, तपसा, ये हैं । इसी प्रकार भागे जानना चाहिये । सारे 'अनुवाक दम्हैं, इस लिये अन्त में दश कहा है 'एकादशविंशतिः' इस पाठान्तर में ब्रह्मवल्ली और भृगुवल्ली के अनुवाक १६ बनलाए हैं ।

ओ३म् । सहनाववतु । सहनौ भुनक्तु । सह-
वीर्यं करवावहै । तेजस्वि नावधीतस्तु । मावि-
द्विषावहै ।

ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

सूचीपत्र

संस्कृत के अनमोल रत्न

अर्थात् वेदों, उपनिषदों, दर्शनों, धर्मशास्त्रों और इतिहास ग्रन्थों के शुद्ध, सरल और प्रामाणिक भाषा अनुवाद ।

ये भाषानुवाद पं० राजाराम जी प्रोफेसर डी० ए० बी० कालेज लाहौर के किये ऐसे बढ़िया हैं, कि इन पर गवर्नमेंट और यूनीवर्सिटी से पं० जी को बहुत से इनाम मिले हैं । योग्य २ विद्वानों और समाचारपत्रों ने भी इनकी बहुत बड़ी प्रशंसा की है । इन प्राचीन माननीय ग्रन्थों को पढ़ो और जन्म सफल करो ॥

(१) श्री वाल्मीकि रामायण—भाषा टीका समेत । वाल्मीकि कृत मूल श्लोकों के साथ २ श्लोकवार भाषा टीका है । टीका बड़ी सरल है । इस पर ७००) इनाम मिला है । भाषा टीका समेत इतने बड़े ग्रन्थ का मूल्य केवल ६।)

(२) महाभारत—इस की भी टीका रामायण के तुल्य ही है । दो भागों में छपा है । प्रथम भाग ६॥) द्वितीय भाग ६।) दोनों भाग १२।

(३) भगवद्गीता—पद पद का अर्थ, अन्वयार्थ और व्याख्यान समेत । भाषा बड़ी सुपाठ्य और सुबोध । इस पर ३००) इनाम मिला है । मूल्य २।), गीता हमें क्या सिखलाती है मूल्य १-)

(४) ११ उपनिषदें—भाषा भाष्य सहित—

१-ईश उपनिषद	≡)	७-तैत्तिरीय उपनिषद	॥)
२-केन उपनिषद	≡)	८-पैतरेय उपनिषद	≡)
३-कठ उपनिषद	≡)	९-छान्दोग्य उपनिषद	२.)
४-प्रश्न उपनिषद	१-)	१०-वृहदारण्यक उपनिषद	२।)
५-मुण्डक और माण्डूक्य		११-श्वेताश्वतर उपनिषद	१-)
दोनों एकट्ठी	१=)	उपनिषदों की भूमिका	१-)

(५) मनुस्मृति—मनुस्मृति पर टीकाएं तो बहुत हुई हैं, पर यह टीका अपने ढंग में सर्व से बढ़ गई है। क्योंकि एक तो संस्कृत की सारी पुरानी टीकाओं के भिन्न २ अर्थ इस में दे दिये हैं। दूसरा इसका हर एक विषय दूसरी स्मृतियों में जहां २ आया है, सारे पंते दे दिये हैं। तिस पर भी मुख्य केवल ३१) है।

(६) निरुक्त—इस पर भी २००) इनाम मिला है ४॥)

०-योगदर्शन	१॥)	१५-दिव्य जीवन	१
८-वेदान्त दर्शन	४)	१६-आर्य पञ्चमहायज्ञ पद्धति	१
९-वैशेषिक दर्शन	१॥)	१७-स्वाध्याय यज्ञ	१
१०-सांख्य शास्त्र के तीन प्राचीन ग्रन्थ	॥॥)	१८-वेदोपदेश	१
११-नवदर्शन संग्रह	१॥)	१९-वैदिक स्तुति प्रार्थना	१
१२-आर्य-दर्शन	१॥)	२०-पारस्कर गृह्यसूत्र	१॥
१३-न्याय प्रवेशिका	॥=)	२१-बाल व्याकरण इस पर २००) इनाम मिला है	
१४-आर्य-जीवन	१॥)	२२-सफल जीवन	
		२३-प्रार्थना पुस्तक	

२६-वात्स्यायन भाष्य सहित न्याय दर्शन भाष्य ४)

वेद और महाभारत के उपदेश -)॥ वेद मनु, और गीता के उपदेश -

वेद और रामायण के उपदेश -)॥ वैदिक आदर्श

अथर्ववेद का निघण्टु ॥=) हिन्दी गुरुमुखी

सामवेद के क्षुद्र सूत्र ॥) पञ्जाबी संस्कृत शब्दशास्त्र ॥

शंकराचार्य का जीवन चरित्र और उन के शास्त्रार्थ, तथा कुमारिल भट्ट का जीवन चरित्र ॥॥) औशनस धनुर्वेद १) उपदेश सप्तक ॥

नोट—कार्यालय की इन अपनी पुस्तकों के सिवाय और ३ सय प्रकार की पुस्तकें रियायत से भेजी जाती हैं ॥

मैनेजर—आर्षग्रन्थावलि, लाहौर ।

